निरन्तर बदलता भी जाता है। हर युग के साहित्यकार अपने पूर्ववर्ती युग के देशी-विदेशी साहित्यकारों की कृतियों से सीखते हैं, उनसे वस्तु और रूप भी उधार लेते हैं, पर साथ ही वे परम्परा से लिये माध्यमो द्वारा अपने युग-जीवन की वैविध्यपूर्ण वास्तविकता और इतिहास-निर्धारित बुनियादी समस्याओं का चित्रण करके इस परम्परा की सुरक्षा ही नहीं करते, बल्कि उसका युगानुरूप संस्कार भी करते है, और अपनी मौलिक कृतियो से मनुष्य की सांस्कृतिक विरासत को उत्तरोत्तर समृद्ध बनाते जाते हैं। तात्पर्य यह कि रचना के क्षेत्र में आवृत्ति या अनुकरण से परम्परा निर्जीव और अर्थहीन होती है, समृद्ध और विकसित नही होती। इसलिए इतिहास और परम्परा का अध्ययन-विवेचन मूल्याकन तभी सार्थक है जब वह वास्तविक रूप से साहित्य की रचनाशील शक्तियों को अनुप्रेरित करे और अपने सामाजिक जीवन के यथार्थ को कलात्मक अभिव्यक्ति देने के मार्ग मे उठने वाली वस्तु-रूप-शैली और टेकनीक आदि से सम्बन्धित समस्याओ का उपयुक्त समाधान खोजने मे उन्हे नई दृष्टि दे, ताकि वे मौलिक और श्रेष्ठ कृतियों की रचना कर सकें—ऐसी कृतियो की जो अपनी आन्तरिक शक्ति और सौन्दर्य से अपने राष्ट्रीय जीवन की इतिहास-निर्दिष्ट समस्याओ का यथार्थ-चित्रण करते हुए भी (या कहे कि इस कारण ही) विश्वजनीन (यूनिवर्सल) और सर्वकालिक महत्ता प्राप्त कर सकें। यही पर राष्ट्रीय कला और साहित्य के निर्माण की समस्या उठ खड़ी होती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास और भावी विकास की मुख्य दिशा को समझने के लिए इस समस्या पर विचार कर लेना जरूरी है।

साहित्य के सम्बन्ध मे 'राष्ट्रीय' शब्द का प्रयोग हिन्दी के इतिहासकारों ने भी किया है, किन्तु संकुचित अर्थ में ही। सन् २० से ४२ के बीच जो राष्ट्रीय आन्दोलन मुखर था उससे सम्बन्धित या उसको प्रतिबिम्बित करने वाले साहित्य को ही राष्ट्रीय कहा जाता है। ऐसा साहित्य चूंकि राजनीतिक आन्दोलनों की सामयिक उत्तेजना के समय ही प्रिय लगता था और उन आन्दोलनो के मन्द पड़ते ही या समझौतावादी पथ पर अग्रसर होते ही इस साहित्य की उपयोगिता और अपील भी खत्म हो गई, इसलिए अच्छे लेखक 'राष्ट्रीय' शब्द से ही चौकन्ने हो जाते हैं। जो कवि आज भी 'राष्ट्रगीत' या राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रतिबिम्बित करने वाली रचनाएँ लिखते हैं वे बेजान तुकबन्दियो या 'इन्दुमती' जैसे उपन्यास से अधिक कुछ निर्माण नहीं कर पाते। साहित्य और कला मे 'राष्ट्रीय' शब्द का इतना संकुचित अर्थ ग्रहण करना सर्वथा गलत है। इसका तो यह मतलब हुआ कि राष्ट्रीय साहित्य कुछ विशेष प्रकार की राजनीतिक रचनाओ का ही नाम है; कि यह साहित्य केवल विद्रोह का साहित्य है और केवल गुलाम देशो मे ही पैदा हो सकता है—जो देश स्वतन्त्र हैं वहाँ राष्ट्रीय साहित्य और कला सम्भव ही नहीं; कि आजादी के लिए संघर्ष करने वाले गुलाम देशो मे भी राष्ट्रीय साहित्य की धारा मुख्य धारा नहीं है; कि इस प्रवृत्ति की स्फुट रचनाएँ तात्कालिक महत्त्व की ही हो सकती है; कि ऐसी रचनाओ के करने वाले ही राष्ट्रीय कवि या लेखक है, अन्य लेखक और कलाकार राष्ट्रीय नहीं हैं। राष्ट्रीय का यह संकुचित अर्थ लगाया जाता है, इसका स्पष्ट उदाहरण यह है कि मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, 'नवीन' या 'दिनकर' को तो राष्ट्रीय कवि कहा जाता है, किन्तु कबीर, तुलसी, सूर, प्रसाद, पन्त, निराला आदि भक्त और छायावादी कवियों को राष्ट्रीय कवि कहने की बात कल्पना में भी नहीं उठती। इस भ्रान्तिपूर्ण धारणा का कारण

सिर्फ यह है कि लोग राष्ट्रीय (नेशनल) और राष्ट्रवादी (नेशनलिस्ट) मे भेद नहीं करते।

इसीलिए राष्ट्रीय शब्द का उच्चारण होते ही लोग सतर्क हो जाते हैं। साहित्यकार या संभ्रान्त पाठक इसे निन्दा की दृष्टि से देखते हैं। दरअसल राष्ट्रीय साहित्य का विरोध तीन दिशाओं से होता है। एक तो उन रीति ग्रन्थों की परम्परा के पुजारी अध्यापकों की ओर से जो श्रेष्ठ साहित्य की रचना के लिए शास्त्रीय नियमो का पालन अनिवार्य समझते हैं। दूसरी ओर साहित्य मे राष्ट्रीय गुणों की अवहेलना वे लोग करते हैं जो शैली और रूप में कला के विश्वजनीन मापदण्डों का प्रयोग करना प्रगति का लक्षण समझते हैं। 'शेखर,' 'नदी के द्वीप' और हिन्दी की नई प्रयोगशील कविता में शैली और अभिव्यक्ति की कृत्रिमता इसी कारण इतनी मुखर है क्योंकि उनमे राष्ट्रीय गुणों को तिरस्कृत किया गया है। साहित्य-कला में राष्ट्रीय आन्दोलन का तीसरी दिशा से विरोध करने वाले वे प्रगतिवादी है जो राष्ट्रीय शब्द को बुर्जा राष्ट्रवाद का पर्याय समझकर हेय मानते हैं। वे हर कविता में वियतनाम, कोरिया, मलाया, चीन, रूस आदि का नाम गिना-गिनाकर संकेतात्मक भाषा मे बात करते हैं, शैली और रूप-विधान में मायाकोवस्की और जुलियस फ्यूशिक की नकल करते हैं। उनकी कविताएँ भी अधिकतर बेजान तुकबन्दियाँ होती हैं या केवल अलंकारिक गर्वोक्तियाँ। कुछ दिन पहले राष्ट्रीय शब्द से उनकी चिढ़ इस सीमा तक बढ़ी थी कि देश-प्रेम की भावना को भी वे सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे। परम्परा के प्रति भी उनका आदरभाव कृत्रिम है, क्योंकि परम्परा में वे केवल उन्हीं लेखकों को शामिल करते हैं जो अब नहीं रहे; जो हैं, वे परम्परा से बाहर, वर्ग-स्वार्थों से आक्रान्त प्रतिक्रियावादी साहित्यकार ही उन्हें नजर आते हैं।

ये मध्यवर्गीय भावना के प्रतिनिधि दृष्टिकोण हैं, जो राष्ट्रीय आजादी के संघर्ष और राष्ट्रीय साहित्य को केवल राष्ट्रवाद और नस्लवाद के रूप में ही देखते हैं, और उसे अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य का विरोधी समझते हैं।

हम इस भ्रान्ति का निराकरण जरूरी समझते हैं, क्योंकि स्वस्थ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य के विकास में ये दिग्भ्रान्त प्रवृत्तियाँ बाधक हैं। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य में कोई आन्तरिक विरोध नहीं है और न राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्रवादी साहित्य का पर्याय ही है। 'राष्ट्रीय' का अर्थ बहुत व्यापक है।

इसीलिए 'साहित्य के इतिहास की समस्या' मे हमने लिखा था : "सभी जानते हैं कि देश की अन्य प्रमुख भाषाओं के आधुनिक साहित्यों की ही तरह हिन्दी का आधुनिक साहित्य भी हमारे राष्ट्रीय जागरण के युग की पैदावार है। या कहें कि राष्ट्रीय जागरण ही आधुनिक युग में भारतीय सांस्कृतिक नव-निर्माण (रिनेसां) की अन्तर्प्रेरणा बना है।" आगे चलकर हमने यह भी स्पष्ट किया था कि इस सांस्कृतिक नवनिर्माण (रिनेसां) की प्रक्रिया को अभी पूरा होना शेष है। किन्तु 'भारतीय सांस्कृतिक पुनर्निर्माण' (रिनेसां) की प्रक्रिया क्या राष्ट्रीय जागरण के साथ ही शुरू हुई? हमारी उक्त स्थापना मे निश्चय ही ऐसी संकीर्णता ध्वनित है, क्योंकि इतिहास की साक्षी कुछ और है। 'आधुनिक साहित्य' को तो जिसका आरम्भ भारतेन्दु से हुआ, राष्ट्रीय जागरण के युग की पैदावार कहा जा सकता है, लेकिन वास्तव मे यह भारतीय रिनेसां का द्वितीय उत्थान है। प्रथम उत्थान तो सम्भवतः भक्त-कवियों—कबीर से शुरू होता है। अर्थात् हिन्दी-क्षेत्र को दृष्टि में रखकर हम कह सकते है कि भारतीय रिनेसां के प्रवर्तक कबीर हैं, भारतेन्दु नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि समूचा हिन्दी साहित्य (और

इसी प्रकार देश की अन्य जातीय भाषाओं का साहित्य भी) भारतीय रिनेसा के प्रथम और द्वितीय उत्थानो की पैदावार है—यह नव-जागृति और सास्कृतिक नव-निर्माण का राष्ट्रीय (नेशनल) साहित्य है। इन दोनो उत्थानों के बीच ह्रास और अधोगति का काल भी आया, किन्तु इस कारण ही प्रथम उत्थान को भारतीय संस्कृति के इतिहास मे उसके वास्तविक गौरव से वंचित करके 'मध्यकालीन' कह देना संगत नही दीखता।

यूरोप मे राष्ट्रीयता का विचार मध्ययुग के बाद सांस्कृतिक नव जागरण के आरम्भ मे पैदा हुआ। तब तक जातीय आधार पर राष्ट्रो का निर्माण न हुआ था, लेकिन व्यापारी वर्ग की शक्ति बढ़ने लगी थी और सामन्तवाद का ह्रास हो चला था। इन नये परिवर्तनो ने सास्कृतिक जागरण के लिए व्यापक परिस्थितियाँ तैयार कीं और यूरोप के विभिन्न देशो मे राष्ट्रीय साहित्य और कला का निर्माण शुरू हुआ। राष्ट्रीय कला या साहित्य से तात्पर्य उस कला और साहित्य से है जो जन-साधारण की भाषा, लोक-वार्ता, लोक-साहित्य, पौराणिक आख्यानों और जन-श्रुतियो से गुम्फित उस जातीय मुहावरे का प्रयोग करता है, जो एक राष्ट्र के लोगो मे समान रूप से प्रचलित होता है। यह मुहावरा सामान्य विश्वासो और सामान्य मनोभूमि को प्रतिबिम्बित करता है, जिससे सहज ही प्रेषणीय होता है। इसीलिए जब तक जातीय या राष्ट्रीय एकता की भावना का उदय नही हुआ तब तक राष्ट्रीय कला और साहित्य का विकास भी नही हुआ। मध्यकाल मे उनके विकास की सम्भावनाओं के बीज सर्व-साधारण के बीच अपने स्थानीय और अनगढ़ ग्राम्य रूपो मे लोक-साहित्य और लोक-कला के माध्यम से पनपते रहे।

हमारे देश मे भी राष्ट्रीय एकता की भावना — > —— मे और सास्कृतिक पुनः-निर्माण के आरम्भ मे पैदा हुई। मध्ययुग मे वैदिक और अवैदिक धर्म-साधनाओं का विरोध बढ़ता रहा और अनेक तान्त्रिक प्रभाव भारतीय साधना को नया रूप और संस्कार देते रहे। उन दिनों धर्म ही लोक-चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम था। सामाजिक जीवन का वैषम्य, उच्च वर्णो और नीच जातियो का आन्तरिक द्वन्द्व—अर्थात् उस युग का वर्ग-संघर्ष, मनुष्य की चेतना में अनेक परस्पर-विरोधी धर्म-साधनाओं के माध्यम से लड़ा जा रहा था। इस संघर्ष मे जन-साधारण की लोक-चेतना के प्रतीक तान्त्रिक प्रभाव ही प्रबल सिद्ध हुए।

इस बीच उत्तर भारत मे विदेशी आक्रमण लगातार होने लगे थे जिससे समाज के नैतिक और धार्मिक जीवन मे उच्च जातियो का नियन्त्रण ढीला पड़ने लगा था और जब कई शताब्दियों की राजनीतिक अव्यवस्था और उलट-फेर के बाद सुलतानो का राज्य स्थापित हुआ और दिल्ली मे केन्द्रीय शासन, केन्द्रीय कानून, केन्द्रीय कर-व्यवस्था और केन्द्रीय सेना की सुरक्षा मे व्यापार चलने लगा तो इन सब के परिणामस्वरूप देश की विभिन्न जातियो (नैश्नेलिटीज) में अपनी जातीय चेतना उद्बुद्ध हुई। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता की भावना और राष्ट्रीय साहित्य और कला का जन्म हुआ। इसी काल मे कांगड़ा और राजपूताना की चित्रकलाएँ और अन्य-अन्य जातियो के नृत्य और सगीत के विभिन्न राष्ट्रीय रूप, लोक-वार्ता, लोक-भाषा और लोक-कला का आधार लेकर विकसित हुए। दस्तकारियों ने भी लोक-जीवन की जातीय विशेषताओं को ग्रहण करके एक अभिनव सौष्ठव प्राप्त किया। इसलिए यह सास्कृतिक जागरण चतुर्मुखी था। इसका आधार जातीय था। इसने देश की अलग-अलग जातियो मे अपनी जातीय एकता की भावना जाग्रत की और उनमें जातीय प्रगति

और आजादी की आकांक्षा उत्पन्न की।

इन तथ्यों की ओर हम केवल इसलिए संकेत कर रहे हैं कि साहित्य और कला में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति जो संकुचित धारणा इस बीच बन गई है, वह निर्मूल हो जाय, और इस सामान्य तथ्य को हमारे इतिहास लेखक और साहित्यकार पहचानने लगें कि हर देश की कला और साहित्य में राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात और उसका विकास तभी होता है जब जनसाधारण अपनी भाषा, अपना मुहावरा और चारित्रिक गुणों के साथ उस में प्रवेश करते हैं, और उनके जातीय इतिहास की स्मृतियाँ, उनके लोक-जीवन की सामान्य मनोभूमि और प्रकृति-प्रेम उनकी अपनी भाषा के माध्यम से व्यक्त होने लगता है। इस दृष्टि से इतिहास का अध्ययन करने पर ही हम इस तथ्य की स्थापना कर सकते हैं कि हिन्दी में राष्ट्रीय-साहित्य का निर्माण कबीर से प्रारम्भ होता है, वही हमारे सांस्कृतिक पुनर्जागरण के प्रवर्तक हैं।

मध्य-युग से पहले या मध्य युग में भी, संस्कृत भाषा ही साहित्य-रचना का माध्यम थी, परन्तु संत कवियों ने इस शास्त्रीय परम्परा को त्यागकर जन-भाषाओं का आश्रय लिया और लोक-कला और लोक-साहित्य की परम्पराओं से प्रेरित ऐसे रूप-विधानों की सृष्टि की जिसमें जनता के जीवन और उसकी समस्याओं का पूरा चित्र उद्घाटित हो जाय। कबीर और सूर के पदों, और जायसी और तुलसी के महाकाव्यों में उस समय के जन-जीवन का पूरा चित्र मिलता है। चूंकि उनकी कला का आधार लोक-साहित्य और लोक वार्ता की परम्पराएँ हैं, इसीलिए वे न केवल सामान्य पाठकों के लिए प्रेषणीय हो सकीं और जातीय-भावना जगाने में समर्थ हुई बल्कि इस कारण ही वे सार्वदेशिक महत्त्व भी पा सकीं।

रीतिकाल के कवियों ने यद्यपि लोकवार्ता और लोक-काव्य के रूपों का सर्वथा त्याग तो नहीं किया लेकिन उन्हें शास्त्रीय-विधानों में बाँधकर रीति-बद्ध करने की कोशिश की जिसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि भाषा का मार्जन होता रहा लेकिन राष्ट्रीय-काव्य के वे 'एपिक' रूप उपेक्षित हो गए जिनका निर्माण करके भक्त कवियों ने अपने युग के समग्र जीवन को चित्रित कर उसके ऐतिहासिक सत्य का उद्घाटन किया था। रीतिकालीन कवि राष्ट्रीय साहित्य की व्यापक आधारभूमि से हटकर जीवन के एकांगी चित्रों की आवृत्ति में ही रम रहे।

भारतेन्दु के समय में एक विदेशी शासन के स्थापित होने के विरुद्ध राष्ट्रीय भावना की जागृति से कला और साहित्य में फिर एक उन्मेष आया और राष्ट्रीय साहित्य का दूसरा उत्थान शुरू हुआ।

इस उत्थान में देश के विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में राष्ट्रीय साहित्यों और कलाओं का जैसा अभूतपूर्व और सर्वतोमुखी विकास हुआ, उसके इतिहास से तो सभी पाठक परिचित हैं। यह विकास कुछ वैसा ही महान् था जैसा पुश्किन के समय से लेकर टॉलस्टॉय और गोर्की तक रूस में हुआ था और जिसने वहाँ पर राष्ट्रीय साहित्य और कला के एक नये उत्थान की भूमिका भी तैयार की। हमारे यहाँ हिन्दी, उर्दू, बंगाली, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलुगु आदि देश की अन्यान्य भाषाओं में इस बीच अनेक ऐसे प्रतिभासम्पन्न कवि, कथाकार और नाटककार हुए हैं जिनकी कृतियाँ देश के विभिन्न भाषा-भाषी पाठकों में ही लोकप्रिय नहीं हैं, बल्कि उनमें से जिनका अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में हो सका है, वे अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व भी पा गई हैं। इसी तरह इस बीच विभिन्न प्रदेशों के जातीय संगीत, नृत्य, चित्र-कला तथा अन्य कलाएँ, जिनका विकास अव-

रुद्ध पड़ा था, राष्ट्रीय-जागरण का अनुकूल वातावरण पाकर पुनः विकसित हुई, और प्रत्येक क्षेत्र में महान् प्रतिभाओं का विकास हुआ। भारतेन्दु, वंकिम, रवीन्द्र, इकबाल, जोश, प्रेमचन्द, प्रसाद, पन्त, निराला, जैनेन्द्र, अवनीन्द्रनाथ, नन्दलाल बोस, जैमिनी राय, उदयशंकर, विष्णु दिगम्बर, फ़ैयाज़ खाँ और उस्ताद इनायतअली खाँ आदि इस युग के साहित्यकार और कलाकार इसलिए महान् और अमर नहीं है कि उनकी कृतियों मे देश-काल की परिस्थितियो और राष्ट्रीय जीवन से असंलग्न कोई ऐसी कल्पित विश्वजनीनता है या मनुष्य-मात्र के ऐसे अमूर्त गुणों का आकलन करने का प्रयत्न है, जो शाश्वत और कालातीत हैं। ऐसी अमूर्तता उनकी कृतियो में नहीं है। कवि गुरु रवीन्द्र की उक्ति के अनुसार 'ससीम में ही असीम' को, राष्ट्रीय मे ही विश्वजनीन को प्रतिविम्बित करने की साधना उन्होने की है। सौभाग्य से राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता ने इस युग मे प्रत्येक प्रादेशिक भाषा-क्षेत्र मे बसने वाली जनता के जातीय सास्कृतिक जीवन मे अपने अतीत इतिहास के गौरव से परिचित होने की जिज्ञासा, अपनी वर्तमान दुरवस्था के कारणों को समझने की उत्कण्ठा, आजादी, प्रगति और एकता की बलवती आकांक्षा, और विश्व की अन्य जातियों की संस्कृतियों में जो-कुछ सामान्य है और जो विशिष्ट है, अर्थात् मानव-प्राणियों की मूल समानता और नाना रूपात्मक विभिन्नता को स्वीकार करने की उदार विश्व-बन्धुत्व की भावना जाग गई थी, जिससे प्रबुद्ध पाठकों और दर्शकों की माँग अधिकतर ऐसे साहित्य और कलाकृतियों के लिए ही होने लगी जो इन विषयो की गम्भीरतम चेतना जगा सकें, उन्हें नई रोशनी, नई अन्तर्दृष्टि और नई प्रेरणा दे सकें और राष्ट्रीय एकता की भावना को मजबूत कर सकें। देश के सांस्कृतिक जीवन का वातावरण कला-निर्माण के लिए अनुकूल पाकर हमारे साहित्यकार और कलाकार एक नये उत्साह से सभी क्षेत्रों मे कला के राष्ट्रीय आधार खोजने की ओर उन्मुख हुए। राष्ट्रीय विरासत, राष्ट्रीय मुहावरे और राष्ट्रीय रूप-विधानो को अपनाने की कोशिश हुई। लोक-वार्ता, इतिहास और पुराण-कथाओ के माध्यम से राष्ट्रीय-जीवन की समस्याओ का उद्घाटन किया गया। ये समस्याएँ नैतिक, सामाजिक और कभी-कभी धार्मिक और राजनीतिक स्तरों पर भी उठाई गईं।

किन्तु रवीन्द्र, शरत्, इकबाल और प्रेम-चन्द की पीढ़ी समाप्त होते ही हमारे देश की विभिन्न भाषाओ और कलाओ मे जैसे यह द्वितीय उत्थान भी समाप्त हो गया। सम्भवतः इसका मुख्य कारण यह था कि एक ओर तो राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी आन्तरिक असंगतियों के कारण विच्छिन्न होकर विपरीत दिशाओ मे चल निकला, और दूसरी ओर इस वैषम्य के परिणामस्वरूप देश के सास्कृतिक जीवन की एकता भी छिन्न-भिन्न हो गई। प्रगतिशीलों ने इस ह्रास को रोकने की कोशिश की, लेकिन वे स्वयं समस्या के ऊपरी रूप से ही परिचित थे, उसके वास्तविक रूप को पहचानने की अन्तर्दृष्टि उनमे उस समय न थी। इस व्यापक विश्रृङ्खलता के दौर में हमारे अनेक प्रतिभाशाली साहित्य-कार और कलाकार भी राष्ट्रीय कला के पथ से हटकर पाश्चात्य देशों में नित्य नये-नये नामों से प्रचार पाने वाली साहित्य और कला की ह्रासोन्मुखी तथा मात्र रूपवादी प्रवृत्तियो को ही विश्वजनीनता और आधुनिकता की कसौटी मान-कर उनकी ओर आकृष्ट हुए और नाम, जगह और वेश बदलकर उनकी अनुकृतियाँ तैयार करने लगे। अपनी कृतियों के लिए विश्वजनीन और सर्वकालिक महत्ता पाने की कोशिश में पाश्चात्य की अधुनातन प्रवृत्तियों का अनुकरण

ही उनका साधन और साध्य बन गया। परन्तु यह प्रयत्न निष्फल ही होता, इस तथ्य को हृदयंगम कराने के लिए तात्त्विक विवेचन की अपेक्षा हो सकती है, लेकिन हम यहाँ पर एक उदाहरण देकर ही सन्तोष करेंगे। गत वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म प्रदर्शनी के अवसर पर 'बाइ-सिकिल थीफ' (चोर) के प्रसिद्ध इतालवी दिग्दर्शक ने भारतीय फिल्मों के बारे में अपना मत प्रकट करते हुए कहा था कि भारतीय फिल्मों में हालीवुड की नकल होती है। इसी कारण टेकनिकल खूबियों के होते हुए भी उनका अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें भारत के विशिष्ट राष्ट्रीय जीवन की झाँकी नहीं मिलती। हालीवुड की नकल करके भारतीय फिल्म-कला का अपना वैशिष्ट्य और व्यक्तित्व नहीं रहता, कि अन्य देशों के दर्शक भारतीय जीवन का अन्तरंग परिचय पाने के लिए उन्हें देखने को उत्सुक रहा करें।

राष्ट्रीय तत्त्व का तिरस्कार करके एक थोथी विश्वजनीनता की ओर दौड़ने की प्रवृत्ति फिल्म-व्यवसाय की ही विशेषता नहीं है। साहित्य-कला के अन्यान्य क्षेत्रों में भी व्यवसायी-वर्ग की ओर से ऐसी अनुकरण-वृत्ति को प्रोत्साहन दिया जा रहा है, अर्थात् राष्ट्रीय कला और साहित्य की विचार-वस्तु और रूप-विन्यास, इन दोनों का क्षेत्र संकीर्ण और कृत्रिम बनाया जा रहा है। फलतः इस प्रतिकूल वातावरण में भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण के तृतीय उत्थान का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो रहा है।

हिन्दी-साहित्य के प्रसंग में रखकर विचारें। हमारे यहाँ रचनात्मक प्रयोगों और प्रयत्नों की कमी नहीं; और प्रतिभाएँ भी विरल नहीं। हर ओर नवीनता-ही नवीनता के दर्शन होते हैं कविता का मुहावरा और शब्द-विन्यास, उपमाओं और प्रतीकों की योजना नवीन है; कहानियों के विषय और पात्र, घटनाएँ और समस्याएँ नवीन हैं; नाटकों की शैली और रचना-तन्त्र नवीन है; उपन्यासों की तो बात ही निराली है। उनको खोलकर पढ़ने की दरकार भी नहीं उनका बहिरंग और कलेवर तक नवीन है। जिन पाठकों ने शरत्, रवीन्द्र, प्रेमचन्द्र और जैनेन्द्र की दुबली-पतली कृतियाँ पढ़कर ही सिर धुना था, वे गत दस-पन्द्रह वर्षों में प्रकाशित हजार पृष्ठों की ड्योढ़ी पार करने में कटिबद्ध दीखते बृहदाकार हिन्दी-उपन्यासों पर नजर पड़ते ही कुछ खो-से जाते हैं। आशा बँधती है कि भारी-भरकम डील-डौल से तॉलस्तॉय, ह्यूगो, डिकेन्स, बाल्जक और रोम्याँरोलाँ की महा-कृतियों को चुनौती देने वाले इन उपन्यासों में शायद इस युग के भारतीय जीवन का 'एपिक' चित्रण होगा। किन्तु पढ़कर जब ज्ञात होता है कि लेखक की विचार-पूँजी की कमी के अनुपात में ही उपन्यासों का विस्तार भी अधिक हुआ है और लेखक किसी के प्रति अपने निजी पूर्व-ग्रह, घृणा या प्रेम को व्यक्त करने के लिए ही किसी पाश्चात्य कृति की शैली और टेकनीक की नकल करके कठपुतली पात्रों की सृष्टि कर रहा है, या उसने जो-कुछ देखा-सुना है उसे ब्यौरेवार बयान करके अपना आत्म-प्रदर्शन करने पर तुला है, तो इस सारी नवीनता के प्रति वितृष्णा ही नहीं होती, प्रतिभा के इस विराट् अपव्यय पर क्षोभ से हृदय छिदने भी लगता है। यही सामान्य स्थिति है। अपवाद भी हैं, पर अपवाद तो अपवाद ही हुए। साहित्य की विचार-वस्तु की दृष्टि से इसी कारण हमने 'यथार्थ और साहित्य'[१] का प्रश्न उठाया था, क्योंकि इन दिनों सामान्य प्रवृत्ति जीवन के यथार्थ से हटकर औसत जीवन की औसत घटनाओं के प्रकृत चित्र खींचने की ओर है। भ्रमवश केन्द्रीय विचार-वस्तु से रहित इस

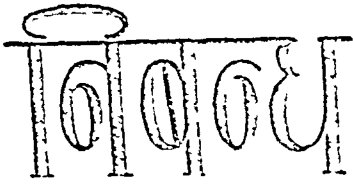
१. देखिए, 'आलोचना' अंक ३ का सम्पादकीय 'यथार्थ और साहित्य'

यथातथ्य, असम्बद्ध चित्रण को ही हमारे साहित्यकार यथार्थवाद या जीवन का यथार्थ चित्रण समझते हैं। आज हमने राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण का प्रश्न भी इसी कारण उठाया है क्योंकि एक भ्रामक विश्वजनीनता के मोह में वे साहित्य को अधिक सीमित और आत्म-केन्द्रित बनाते जा रहे हैं, और विश्व-साहित्य के इतिहास के इस व्यापक सत्य को भूल रहे हैं कि मानव-जीवन के विश्वजनीन सत्य उसके विशिष्ट ऐतिहासिक और राष्ट्रीय जीवन के माध्यम से ही उद्घाटित हो सकते है; कि कला मे राष्ट्रीय तत्त्व जितना ही गहरा होगा, उसे विश्वजनीन स्वीकृति मिलने मे उतनी ही आसानी होगी।

इसलिए राष्ट्रीय साहित्य और कला के निर्माण की समस्या के दो पहलू हैं: (१) ऐसी परिस्थितियों को पैदा करना जिनमे राष्ट्रीय कला और साहित्य अकुंठित रूप से विकास कर सके, अर्थात् समाज का सास्कृतिक जीवन ऐसा बनाएँ जो कला-सर्जन मे प्रेरक बने बाधक नही। (२) विश्व की कला, साहित्य और विज्ञान की विरासत से जो कुछ सीखा जा सकता है, सीखकर ऐसी कृतियो का निर्माण करने का प्रयत्न करना जिनमे इस युग ने हमारी जनता के सामने जो नैतिक और सामाजिक प्रश्न उठा दिए हैं उनको कलात्मक अभिव्यक्ति देने तथा अपनी जनता के चारित्रिक गुणों का उद्घाटन करने की समस्या का समाधान पा सके। ऐसी कृतियाँ ही अपनी विचारोत्तेजक शक्ति से जनता की सास्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है और साथ ही अन्य देशों की जनता के आगे हमारे राष्ट्रीय जीवन का सही-सही प्रतिनिधित्व करके एक-दूसरे को अधिक निकट लाने मे योग दे सकेगी। ऐसी कृतियाँ ही वास्तव मे अन्तर्राष्ट्रीय या विश्वजनीन महत्ता प्राप्त करती हैं।

राष्ट्रीय साहित्य और कला के तृतीय उत्थान के लिए यही व्यावहारिक समस्याएँ हमारे सामने हैं। आज की प्रतिकूल परिस्थितियो मे राष्ट्रीय सास्कृतिक जीवन एक व्यंग्यपूर्ण हकीकत बन गया है, जिसमे उच्चकोटि का साहित्य और कला का फलना-फूलना सम्भव नही दीखता। इसलिए तृतीय उत्थान के लेखक और कलाकार को पाश्चात्य देशो की ह्रासोन्मुखी सामयिक प्रवृत्तियो का आकर्षण छोड़ यथार्थ जन-जीवन के सत्यो को उद्घाटित करने वाली श्रेष्ठ कला-कृतियो का निर्माण भी करना है और अनुकूल सास्कृतिक जीवन के लिए संघर्ष भी।

—*शिवदानसिंह चौहान*



हंसकुमार तिवारी

हिन्दी गीति-काव्य का विकास

भारतीय साहित्य में गीतों की परम्परा बड़ी पुरानी है। जो गीत-साधना के ऐतिहासिक पहलू से दिलचस्पी रखते हैं, उन्हें इसकी कड़ी वैदिक युग में ही जोड़नी पड़ेगी। ऋग्वेद में उषा की जो स्तुतियाँ आई हैं, वे गीत हैं। सामवेद गीत ही है। सुभाषित ग्रन्थों में पाणिनि के नाम से कुछेक ऐसे भी पद्य मिलते हैं जो कि गीत हैं : सिद्धों की रचनाएँ और गोरखनाथ के पद भी गीत हैं। और इस प्रकार गीतों की यह गतिशील धारा विभिन्न युगों एवं जीवन के अंचल में बहती हुई नये रूप, नई गति, चेतना की नई दीप्ति तथा जीवन के ऐश्वर्य से दिन-दिन पुष्ट और प्राजल होती आई है। आज जिसे हम गीति-कविता कहते हैं, है तो वह उसी परम्परा की देन, उसी कुल का अंगी, किन्तु अवधि के इस व्यवधान से वह रूप, प्रकृति और प्राण-धर्म के लिहाज से स्वतन्त्र कोटि में आ खड़ा हुआ है।

पिछले काव्य-विचार में गीति-कविता कोई अलग काव्य-भेद नहीं है। यह शायद इसलिए कि उन दिनों काव्य-मात्र गेय हुआ करते थे और गीत-मात्र काव्ययुक्त वैदिक ऋचाओं की रचना गाने के ही निमित्त हुई थी। यज्ञोत्सवों में उन मन्त्रों को उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वर में गाया जाता था। यहाँ एक शंका उठ सकती है। मन्त्र गेय तो ठीक होते थे, लेकिन उनका काव्यत्व क्या था? काव्य और मन्त्र निश्चय ही एक नहीं है, पर काव्य मन्त्र की कोटि तक उन्नत हो सकते हैं, कवि ऋषि होता है यह हम आज भी मानते हैं। परम्परागत संस्कार से हम काव्य-चर्चा में कभी वेद, उपनिषद् या गीता का नाम नहीं लेते, जब लेते हैं बाल्मीकि, व्यास और कालिदास का ही नाम लेते हैं और चूँकि इनकी रचना श्रेष्ठता के उस पर्याय तक पहुँची है, उस पराकाष्ठा तक उठ गई है कि हम व्यास, बाल्मीकि को ऋषि भी कहते हैं। टाल्स्टाय और रवीन्द्र को भी ऋषि कहते हैं। काव्य और मन्त्र दोनों ही वाक् के रूप हैं—एक में मानिए महिमा, दूसरे में माहात्म्य। जब मूर्ति के प्राण से शृङ्गार का वजनी होता है, तब काव्य होता है, जब वाक्य से उसका आश्रयी भारी होता है तो वह हो उठता है मन्त्र। जैसे,

सत्यमेव जयते नानृतम्
सत्येन पन्था विततो देवयानः।

इतना सरस, संक्षिप्त और निराभरण काव्य क्या होगा, अथवा कितना तेजोमय, सामर्थ्यशाली और

प्राजल ! यहाँ वाक्य का विग्रह अनलंकृत और अनावृत ही नहीं है, मानो देह आत्मा ही हो उठी है।

दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि सौदर्य सत्य रूप हो उठा है। सिद्धि की सीमा पर पहुँचते ही अलंकार निरर्थक ही नही होते, भार हो जाते हैं। वैष्णव कवि ने एक स्थान पर लिखा है, जब मिलन की घडी आई तो राधा ने अपने सारे गहने उतार फेके। मन्त्रो का यही स्वभाव है—वहाँ भाव और भापा एकाकार हैं। वर्ड्सवर्थ के सम्बन्ध मे मैथ्यु आर्नल्ड ने एक बड़ी बात बताई है कि उनकी कविता जहाँ पराकाष्टा को पहुँची है, वहाँ स्वयं कवि अंतर्धान हो गया है, प्रकृति स्वयं उसे लिख गई है। यो ऋपि भी कवि हैं और मन्त्र मे काव्यत्व है। उपनिपद् की ये पंक्तियाँ दोनो दृष्टि से पूरी है—

तमेवभान्तमनुभाति सर्व्वम्
तस्य भासा सर्व्वमिदं विभाति।

वाल्मीकि और व्यास को हम इसीलिए ऋपि कहते है, क्योंकि उनका कृतित्व काव्य को मन्त्र की सीमा तक ले गया है। वेद-उपनिपद् के मन्त्रो मे काव्यत्व भी है, क्योंकि जो कल्पना-वैचित्र्य, व्यंजना और शक्ति व्यास-वाल्मीकि मे है, वह अर्थ-शक्ति, ध्वनि-सुपमा और व्यजना उनमे है। जैसे,

वाल्मीकि कहते हैं—तेजसदित्य सङ्काशः क्षमया पृथिवीसमः (तेज मे आदित्य की प्रयान्सा, क्षमा मे धरती के समान) अथवा—गतार्च्चिषमिवालम् (शिखाविहीन अग्नि के समान) या कि व्यास का—विवेशरंगं विस्तीर्णं कर्णः पादचारीव पर्वतः (विस्तृत सभा में पादचारी पर्वत के समान कर्ण ने प्रवेश किया)।

उपमा आदि की यही विशिष्टता हमे उपनिषदो मे भी सर्वत्र मिल जाती है। यथा—

शरवतन्मयोभवेत् (बाण-जैसा तन्मय होकर जाओ); अथवा—वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः (आसमान पर पेड के समान स्वर्ग मे दण्डायमान अद्वितीय एक)।

शतपथ ब्राह्मण मे ऐसा उल्लेख आया है कि प्रजापति ने सर्वप्रथम आत्मनिष्ठ वाक् की उद्भावना की, बाद मे वाक् और मानस के संयोग से नामरूपादि का विस्तार हुआ। ये वाक् और मानस क्रम से स्वर और वाणी के द्योतक है, जिनमे से एक की विरासत काव्य का लयात्मक आनन्द है और दूसरे की चेतना की सुपमा। वैदिक काल तक तो इन दो विशेपताओ की अलग लकीरें न फूट सकीं—दोनो एक विन्दु पर ही केन्द्रित रहीं। कुछ आगे चलकर वेद की मुक्त भापा व्याकरण के बन्धनो से बाँधी गई और स्वर, लय और ताल के जाल से घेरा गया। तब तक वाल्मीकि ने छन्द की उद्भावना की और गीत क्रम से लोक-गान हो गया, जिस पर नई-नई उद्भावित राग-रागिनियो का गाढ़ा रंग चढता गया। यह स्थिति महाभारत-काल तक तो चरम सीमा पर पहुँच गई। गीत संगीतमय ही रहे, उनका काव्यत्व फीका पडता गया। गीति-कविता को अपने स्वतन्त्र रूप मे आने मे बड़ी लम्बी दूरी तै करनी पड़ी।

गीति-कविता मूलतः स्वर और वाणी का एक सन्तुलित समन्वय है। यों तो संगीत सदा काव्यात्मक वाणी और काव्य सदा नाद-सौन्दर्य का आग्रही रहा है, परन्तु गीत संगीत-तत्व-प्रधान और काव्य वाणी-प्रधान ही होता है। चूँकि गीति कविता संगीत के बजाय काव्य कुल की है, इसलिए उसमे वाणी की मुख्यता ही अपेक्षित भी है। पुराने काव्यालोचन में श्रव्य और दृश्य के

भेद से काव्य के दो ही भेद माने गए—महाकाव्य और खण्ड-काव्य। और स्वच्छन्द छन्दोबद्ध या निर्बन्ध रचना को मुक्तक कहा गया। मुक्तक के ही पाठ्य और गेय दो भेद मानकर आजकल कुछ लोग गीति-कविता को उसके अन्तर्गत गिनने लगे हैं। किन्तु गीतों या गेय मुक्तकों से गीति-कविता का मात्र संगीतात्मकता का ही फर्क नहीं है, कलात्मकता, स्वरूप और आत्मा का भी फर्क है।

मुक्तक को रसोद्रेक के लिए अनुबन्ध की आवश्यकता नहीं होती। एक ही में रस की पूरी अभिव्यक्ति या विषय का सांगोपाग चित्रण हो जाता है।[1] उसके प्रत्येक पद्य अपने-आपमें स्वतन्त्र होते है। उसे समझने में पूर्वापर प्रसग की अपेक्षा नहीं होती।[2] इस प्रकार मुक्तक से मात्र छन्दो की इकाई ही उपस्थित होती है—जैसा कि आज की गजलों का स्वभाव है। गजल मे एक टेक पर शेर तो कई टिके होते हैं, पर हर शेर की आत्मा, हर शेर का अस्तित्व दूसरे से जुदा होता है। सारी गजल की एकरस सिद्धि मे वे एक दूसरे के अनुवर्ती या सम्बन्धी नहीं होते। गीति-कविता की प्रत्येक कड़ी, प्रत्येक पद, मूल भाव की स्थापना मे एक दूसरे के सहायक और पूरक होते हैं। पूरी कविता मे शुरू से आखिर तक एक सुष्ठु सामंजस्य, एक सगीत होता है। मुक्तक से आप भर्तृहरि, हाला या अमरुक के पद्य समझें, जिन्हे संदर्भ आदि बाह्य उप-करणों का कोई बन्धन नहीं है। मुक्तक की प्रबन्धात्मक, निबन्धात्मक शैलियाँ भी है। जैसे, 'मेघ-दूत' या 'ऋतु संहार'। इनमें से एक मे आद्योपान्त एक कथानक का निर्वाह है, दूसरे मे सर्गबद्धता और प्रत्येक सर्ग मे एक विषय की एकवाक्यता। इनमे गीति-तत्त्व बहुत हद तक होते हुए भी, चूँकि आख्यान-काव्य के तत्त्वो का ही विशेष समावेश है, इसलिए इसे विशुद्ध गीति-कविता न कहकर हम प्रगीत-गाथा कहेगे। इसमे वैयक्तिक हर्ष-शोक की व्यंजना भी किन्हीं अशों मे हम मानते है, लेकिन विशेष आग्रह आख्यान का ही है।

जयदेव के 'गीत-गोविन्द' की रचना से एक अभिनव शैली का सूत्रपात जरूर होता है, पर उनके गीत भी गीति-काव्यत्व के गुण-मण्डित नहीं हैं। उनमे अद्भुत प्रवाह है। गजब का शब्द-सौष्ठव है, भावात्मकता भी है। पर राग-ताल द्वारा सागीतिक निष्ठा और वर्णन का बहुत अधिक मोह है। श्लोक, गद्य और गीत—सबके समावेश से राधाकृष्ण की जीवन-घटनाओं पर उन्होंने शृङ्गार की एक नई ही तन्मयता का दान काव्य-पिपासुओं को दिया है। उनकी रचना को किसी ने ग्राम्यरूपक, किसी ने गीति-नाट्य तो किसी ने संगीत-रूपक कहा है। पिशेल और लेवी के अनुसार उनकी रचना गीति-काव्य और नाटक के बीच की चीज है। जो हो, हम उन्हे गीति-कविता के बजाय गीत कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनमे वर्णन और सगीत के विधान की ही अधिक निष्ठा है, अनुभूति-व्यंजकता की कम। इसका एक कारण यह भी है कि जयदेव पर लोक-गीतों का प्रभाव परोक्ष रूप से ही पडा। जयदेव से कोई सवा दो सौ साल बाद कवि विद्या-पति ने गीतो की एक स्वतन्त्र परम्परा की नींव डाली, जो गीत गो कि गीति-कविता के समीप थे। विद्यापति की अभिव्यंजना में वर्णन का आग्रह कम और शुद्ध रागात्मक आवेश की अधिकता है। कवि लोक-हृदय और लोक-भाषा के अधिक निकट था। उसने लोक-जीवन की और लोक-वाणी की उपेक्षा नहीं की और अपने गीत 'देसिल वचना' मे ही गाये।

---

१. मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्—अग्नि पुराण।

२. पूर्वापर निरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।—ध्वन्यालोक।

अनुपम गीति-सौन्दर्य के बावजूद हम विद्यापति के गीतों को शुद्ध गीति-काव्य नहीं कहते। विद्यापति में रागात्मक आवेश की वह संगीतात्मकता अवश्य है, जिसका विकास कि आगे चलकर गीति-कविता में हमें मिलता है। किन्तु इस रागात्मक आवेश के अतिरिक्त गीति-कविता का एक सबसे बड़ा और अपरिहार्य तत्त्व जो है, वह है व्यक्ति-चेतना की अभिव्यक्ति। वैयक्तिक अनुभूति की मार्मिक व्यंजना ही मूलतया गीति-काव्य का उपजीव्य है। जिन्हें हम प्रगीत कहते हैं, वह वास्तव में मुक्तक का एक स्वरूप-विधान भर है—इसके विपरीत गीति-काव्य स्वरूप और वस्तु का एक सगतिपूर्ण सामंजस्य है। उसमें कवि की आतरिकता, उसकी एकान्त व्यक्ति-अनुभूति संगीत-मुखर होकर आत्मप्रकाश करती है, वह आत्मानुभूति और सगीत की एक सन्तुलित अभिव्यक्ति है। काव्य के अन्य अनेक रूपों में समष्टिगत अनुभूति की मुख्यता होती है। कवि का हृदय जब सामाजिक आवेष्टन और देश-काल की संकीर्ण सीमा को छोड़ जाता है और उस स्थिति में उसकी आत्मानुभूति, व्यक्तिगत वासना-कामना, आनन्द-वेदना उसके अन्तस्तल से आवेगमय सुर के माध्यम से एक भाव-मूर्ति में प्रकाश पाती है, तब हम उसे गीति-कविता कहते हैं। दो शब्दों में गीति-कविता को हम कवि का हृदय-मुकुर कह सकते हैं: उसमें कवि की आत्मनुग्धता के दर्शन होते हैं, उसमें उसके प्राणों का स्पन्दन सुना जा सकता है।

इस आत्मानुभूति का मूलाधार तो अनन्त जगत् ही होता है, जिससे हृदय की एकाकारता द्वारा, योग-दशा द्वारा कवि अपनी चित्त-वृति को अभिव्यक्ति के अनुकूल बनाता है। इस विशेष चित्त-वृत्ति को गीति-वृत्ति कहा जा सकता है। इस वृत्ति और इस जाति की कल्पना-जात होने से ही गीति-कविता काव्य के अन्य अंगों से भिन्न हो उठी है, कवि-कल्पना के मूलतया दो पर्याय हैं—गीतात्मक या आत्म-केन्द्रित कल्पना तथा नाटकीय कल्पना। एक से विषयि-प्रधान या गीति-कविता जन्म लेती है, दूसरी से विषय प्रधान। दोनों के पीछे दो तरह की अंतर्दृष्टि काम करती है—आपेक्षिक दृष्टि एवं निरपेक्ष दृष्टि। वास्तव में तो कवि के निजत्व से परे उसकी कोई रचना नहीं होती, किन्तु आपेक्षिक दृष्टि-प्रसूत रचना विशेष रूप से भाव-प्रधान और आत्मधर्मी होती है। इस आत्मपरायण कविता में बहुत हद तक संकीर्णता की बू होती है, यदि कवि का अन्तस्तल महत् नहीं होता। स्वयं आत्मधर्मी गीतिकार रवीन्द्र तक ने इस कोटि की कविता में वह महिमा नहीं कबूल की। उन्होंने कवि की दो कोटियाँ मानी हैं और उस पर से काव्य के दो विभाग किये हैं—एक वह, जिसमें कवि की अपनी बात होती है और दूसरा वह, जिसमें किसी बड़े सप्रदाय या समाज की बात होती है। कवि की अपनी बात से रवीन्द्र का तात्पर्य उस सामर्थ्य से है, जिसमें उसके सुख-दुःख, उसकी कल्पना, उसकी अभिज्ञता से ससार के मनुष्य-मात्र का हृदयावेग और जीवन की मर्मस्पर्शी बातें स्वयमेव प्रतिध्वनित हो उठती हैं। इस श्रेणी के कवि महाकवि भी हो सकते हैं, रवीन्द्र को संभवतः इस पर आस्था नहीं। उनके खयाल में महाकवि वह होता है जिसकी रचना के अन्तस्तल से एक समग्र देश, सपूर्ण युग तथा कवि का हृदय और उसकी अभिज्ञता चिरस्मरणीय होकर रूप लेती है। ऐसे कवि महाकवि हैं, इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। हम सिर्फ यह कहना चाहेंगे कि कवि की आन्तरिकता में यदि ईमानदारी का अभाव न होगा, उसकी आत्मानुभूति यदि युग की संवेदनीयता और सांगीतिकता के सगम पर मुखरित होगी, तो वह अभिव्यक्ति बेशक सार्वभौम होगी। बल्कि कल्पना की उस निरपेक्ष दृष्टि में वैसी अपूर्व क्षमता नहीं होती। उदाहरण के तौर पर यह कहा जा सकता है कि

काव्यों की परम्परा में तुलसी के राम की झाँकी 'साकेत' में नहीं उतर सकी है, न ही सूर के कृष्ण आज के 'प्रिय प्रवास' में वैसे उतर पाए हैं। इसके विपरीत गीतों की परम्परा में हम देखते हैं कि कबीर के गीतों की प्रतिध्वनि रवीन्द्र के गीतों में गूँजती है, मीरा की मर्म-वेदना की धड़कन महादेवी के गीतों में धड़कती है। इस रूप में सर्वकालिक और सर्वजन-सवेद्य होना गीतों के लिए अनहोना नहीं है। स्वयं रवीन्द्रनाथ महाकवि कहलाए, गो कि उन्होंने किसी प्रबन्ध काव्य की रचना नहीं की। पन्द्रहवीं सदी के पिछले पचास वर्षों में फ्रांस में एक गीतकार कवि पैदा हुआ, जिसकी काव्य-साधना से मिडिएवेलिज्म दरगोर हो गई और उस पर फ्रांस के नवीन काव्य का युग आरम्भ हुआ। वह कवि विलन् था, जिसके गीतों को मैथ्यू आर्नल्ड ने चासर की साहित्यिक साधना से कहीं ऊँचा स्थान दिया। इस प्रसग की अवतारणा से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि रचना का आदर्श विलन् की ही कविता है, बल्कि यह कि प्रबन्ध काव्य, नाटक या वर्णनात्मक काव्यों का ही श्रेष्ठता पर जन्मसिद्ध अधिकार नहीं है, गीति-कविता पर भी श्रेष्ठता की वह मुहर लग सकती है बशर्ते कि आत्मानुभूति में वास्तव का स्पर्श हो।

हिन्दी-गीति-कविता को आज के अपने रूप तक पहुँचने में मूलतः चार मुख्य मंजिलें तै करनी पड़ी हैं। पहली अवस्था इसकी वह थी जब कि गीत गेय होते ही थे, उनमें भावों के विस्तार या प्रेषणीयता के लिए काव्यत्व का विशेष आग्रह नहीं था। उनके भाव-प्रकाश का प्रकृत माध्यम भावुकता के बजाय गेयता था। उस समय की सबसे बड़ी विशिष्टता तो यह थी कि जैसे उनके प्रत्येक भाव सामाजिक होते थे, वैसे ही उनकी हर अभिव्यक्ति सामूहिक हुआ करती थी। उनका आनन्द विषाद, दुःख-सुख, हर्ष-शोक, मिलन-विरह-जैसी वैयक्तिक अनुभूति का स्वरूप भी सामूहिक ही था। वैदिक मन्त्र उत्सवों के अवसर पर गीत होते थे और उनकी गेयता से सामाजिक रागात्मिका अनुभूति की उद्भावना होती थी। उस समय वैयक्तिक भावना का विकास नहीं हुआ था और लोगों पर अनुभूति की अपेक्षा राग-सुर ज्यादा हावी थे। प्राथमिक अवस्था में ऐसी स्थिति प्रत्येक जाति और प्रत्येक साहित्य की रही थी—इतिहास से यह पता चलता है। उत्सवों में सामूहिक गीतों की परिपाटी सभी जातियों में पाई जाती रही है। जातियों के प्राथमिक युग सामूहिक संस्कृतियों के ही युग होते हैं। वैयक्तिक भावना बाद में विकसित होने लगती है। ग्रीकों ने काव्य के दो भेद माने—सामूहिक (कोरिक) और गीत (मेलिक)। आगे चलकर गीत का अन्तर्भाव कोरिक में हो गया। हमारे यहाँ वैयक्तिक भावना का उन्मेष वैदिक युग के ही अन्तिम दिनों में होने लगा था और बौद्ध-युग में दुःखवाद की प्रधानता होने से उस भावना को थोड़ी और भी गति मिली, गो कि उनके निवृत्ति-मार्ग की पोषकता के कारण गेय काव्य का बड़ा ह्रास हुआ, क्योंकि नैतिक आचरण की प्रबलता ने सामाजिक आचार के पिछले स्वरूप को विनष्ट कर दिया। यहीं गीति-परम्परा की वह दूसरी अवस्था आती है, जहाँ संगीत और गीत दोनों की दूरी और उनकी अपनी-अपनी विशेषता साफ झलकने लगती है। इस अवस्था की देन मुख्यता वे लोक-गीत हैं, जिनमें अर्थ और भाव दोनों की प्रधानता के साथ काव्य और संगीत, दोनों के शास्त्रीय मानों के प्रति तीव्र विरोधिता है। उन गीतों द्वारा हार्दिकता, आत्मधर्मिता और संगीत की जगह संगीतात्मकता की प्रतिष्ठा होती है। गीत और काव्य की यह दूरी प्राकृत से अपभ्रंश काल तक देखी जाती है।

तीसरी अवस्था में गीति-काव्य अपनी अभीप्सित भाव-भूमि की ओर बहुत कुछ अग्रसर

देखा जाता है। इस अवस्था में गीतों में स्वर और भाव दोनों की समान प्रमुखता हो जाती है। हिन्दी-साहित्य के आदियुग मे वीर-गाथा और वीर-गीतों की वह परम्परा आरम्भ हो जाती है, जिस पर लोक-गीतो के सहज सांगीतिक एवं मार्मिक भावैश्वर्य की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। वीर-गाथाओ में गीतात्मकता का जहाँ तहाँ अच्छा समावेश है। वैसे गीतों के विषय मुख्यतया युद्ध और प्रेम ही है। 'बीसलदेव रासो' और जगनिक का 'आल्हखंड', इन दो मे ही वह गीतात्मक प्रवृत्ति बहुत हद तक निखर पाई है। बीसलदेव की रचना यद्यपि प्रबन्धात्मक शैली मे हुई है और वह वीर-गाथाओ के युग की कृति है, तथापि उसमे वीर रस के बजाय शृङ्गार का ही वास्तव मे परिपाक हुआ है। कवि ने उसकी रचना गाने के ही उद्देश्य से की थी, ऐसा उसकी पक्तियो से जाहिर होता है। जनता को सम्बोधित करके वह कहता है :

गायो है रास सुणै सब कोई।
सांभल्या रास गंगा फल होई॥
कर जोड़े नरपति कहई।
रास रसायण सुणै सब कोई॥

'रासो' मे अवश्य हमें साहित्यिक-सौष्ठव के दर्शन नहीं होते, परन्तु सहज और स्वाभाविक भावो का सौन्दर्य है। वह युग कुछ था भी ऐसा कि स्वतन्त्र गीति-कविता के विकास का उपयोगी अवसर नही था। देश में राजनैतिक हलचल थी, समाज मे कहीं शान्ति न थी। राजनीति के उस समय जो प्रमुख केन्द्र थे, राजस्थान, अजमेर, दिल्ली, कन्नौज आदि—सब युद्ध-लिप्त थे और उन्ही केन्द्रो मे राजाश्रित कवियो, भाटो या चारणो द्वारा साहित्य-रचनाएँ होती रहीं। फलतः वे रचनाएँ युद्ध, शिकार और राजाओ के विवाह आदि विषयों से आगे नहीं बढ़ सकीं।

मध्यकाल मे शुद्ध शृङ्गार और प्रेम तथा भक्ति के गीतो की रचना बहुलता से हुई। इस युग मे स्पष्टतया दो प्रमुख धाराएँ लक्षित होती हैं—सगुण और निर्गुण साधना। पहली धारा के प्रमुख पाये विद्यापति, सूर, तुलसी और मीरा हैं—दूसरी के कबीर, नानक, दादू आदि। गीतो की स्वतन्त्र परम्परा वास्तव मे विद्यापति से ही शुरू होती है। विद्यापति मे राधा-कृष्ण की लीलाओ के प्रति खासी अनुरक्ति होते हुए भी उनके गीत भक्ति के बजाय शृङ्गार-प्रधान ही हैं। मध्यकाल मे शृङ्गारी-साहित्य की जो भी साधना हुई है, उसमे राधा-कृष्ण ही आधारस्वरूप रहे। संभवतः शृङ्गारी कवियो ने यह देखा कि धार्मिक भावना की इस ढाल को सामने रखकर शृङ्गारी-काव्य के साथ समाज के किसी भी क्षेत्र मे प्रवेश करने में कठिनाई नहीं होगी। इसलिए अन्य लोग राधा-कृष्ण की परम्परा लेकर आगे बढे, विद्यापति साहित्यिक शृङ्गार को लेकर। विद्यापति में मूलतया मानवीय सौन्दर्य का आग्रह है और उसी आग्रह के प्रकाश-माध्यम या प्रतीक के रूप मे राधा-कृष्ण का चित्रण हुआ है। इस प्रकार जयदेव की परम्परा के दूसरे बड़े स्तम्भ विद्यापति ही हैं। इनके पदो का धार्मिक महत्त्व चाहे जितना बडा आँका जाय, उनकी पदावलियों से लोग कितने ही चाहे भक्ति-विह्वल हो, उनमें मानवता का मूल-सुर प्रतिध्वनित हुआ है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। शृङ्गार-साहित्य के प्रारम्भिक काल मे भक्ति उसके समानान्तर जरूर चलती है, किन्तु धीरे-धीरे शृङ्गार उसे छाप लेता है और आराध्य कृष्ण-राधा के विस्तार मे डूब जाते है। काव्य मे राधा की प्रतिष्ठा जयदेव के 'गीत-गोविन्द' के बाद ही हुई और जयदेव मे संभवतः हाला-कृत 'गाथा सप्तशती' से। 'गाथा' मे जगह-जगह गोपियो और राधा का जिक्र आया है। जैसे—

सुह मारुएण तं ग कराह गोरअ रहिआर्यं अवणेन्तो ।
एताणं वल्लवीणं अण्णाण विगोरअं हरसि ॥

ऐ कृष्ण, मुँह की हवा के सहारे राधिका के (मुँह पर पड़े) गो-रज को उडाकर तुम अन्य गोपियो के गौरव का भी हरण कर रहे हो।

णच्चण सलाहण निहेण पास परिसंठिआ खिडण गोरी ।
सरिस गोविआणं चुम्बइ कपोल पडिमागअं कह्न ।

गोपियाँ कृष्ण के साथ नृत्य-निरत है, उनके चिकने ललाट पर कृष्ण की परछाई पड रही है। अपने बगल की गोपी की नृत्य प्रशंसा के बहाने कान के पास अपना मुँह ले जाकर एक गोपी दूसरी के कपोल पर प्रतिबिम्बित कृष्ण को चूमती है।

जयदेव गाथा-प्रभावित कवि जरूर हैं किन्तु लोक-सुलभ भावना उतनी साफ और सीधी शैली मे उनकी रचनाओ मे नहीं उतर पाई, जितनी कि विद्यापति मे। विद्यापति के अलंकार अग रस, नायिका-भेद, साहित्यिक प्रयोग आदि परम्परागत हैं, उनकी शैली प्राचीन सरकृत एवं अपभ्रंश के प्रभाव से ओत-प्रोत है, फिर भी वे लोक-गीति-परम्परा के बहुत अधिक समीप है। उन्होने लोक-जीवन की लीलाएँ, उनके विश्वास, उनकी रीति-नीति को भी अपनी रचनाओ मे अगीभूत किया है। और इस कारण सौन्दर्य, भाव-विस्तृति, संगीतमयता और वेदना की जो तीव्रता विद्यापति मे आ पाई है, बहुत बार जयदेव उससे पीछे रह जाते हैं। एक स्थान पर विद्यापति ने नारी-रूप और शिव-मूर्ति का एक ही चित्र दिया है। उस चित्र मे भी काव्य की सौन्दर्य-भावना और कलात्मकता भक्ति से पीडित नहीं हो सकी है और नारी मन का एक सहज सुन्दर परिचय मिलता है :

कतन वेदन मोहि देसि मदना ।
हर नहि बला, मोहि जुवति जना ।
विभुति भूषन नहि, चानन क रेनू ।
बघ छाल नहिं, मोरा नेतक बसनू ॥
नहि मोरा जटाभार, चिकुरक वेनी ।
सुरसरि नहिं मोरा, कुसुमक श्रेणी ॥
चाँदन क बिन्दु मोरा, नहि इन्दु छोटा ।
ललाट पावक नहि, सिंदूरक फोंटा ॥
नहिं मोरा कालकूट, मृगमद चारू ।
फनपति नहि मोरा मुकुता हारू ॥
भनइ विद्यापति सुन देव कामा ।
एक पए दूखन नाम मोर वामा ॥

इसी चित्र को जयदेव ने भी उतारा है, किन्तु विद्यापति के चित्र को वह नहीं लगता :

हृदि विलसत हारो नायं भुजंगम नायकः;
कुवलय दल श्रेणी कण्ठे न सा गरल द्युतिः ।
मलयज रजोनेदं भस्मप्रिया रीस्ते मयि,
प्रहर न हर भ्रांत्यानंग क्रुधा किमु धावसि ।

रधाा-कृष्ण की यह वृत्ति धीरे-धीरे रूढ़ि मे परिवर्तित होती चली गई। केवल सूर और मीरा मे उन वृत्तियो के साथ उत्कृष्ट साहित्यिक गीतात्मकता के दर्शन हमे मिलते हैं। सूर मे भावुकता और हार्दिक वृत्ति बहुत प्रबल है, इसलिए उनके गीतों मे विदग्धता और तन्मयता का परिमाण अपेक्षाकृत अधिक है। सूर के पदो मे शान्त, वात्सल्य और शृङ्गार रस की मुख्यता है और आत्म-निवेदन, वियोग-वर्णन एवं बाल-यौवन के शृङ्गारी चित्र अधिक हैं। प्रबन्धात्मकता के बावजूद हार्दिकता के योग से उन पदो का गीति-सौन्दर्य विशेष निखर सका है। मीरा मे उसकी वैयक्तिकता चूँकि सीधे रूप ले सकी है, इसके कारण उसकी आत्मीयता की सुषमा और लयात्मक व्यंजना और अधिक मर्मस्पर्शिणी हो सकी है। श्याम के बिछोह मे वियोगिन गोपियो की आँखे आठों पहर बरसती है। सूर न उसे शब्दो मे इस प्रकार बाँधा है :

निस दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस रितु हम पैं जब तैं स्याम सिधारे।
दृग अंजन न रहत निसि-बासर कर-कपोल भए कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहों उर बिच बहत पनारे।

विरह की यह एक सार्वभौम दशा है और शब्दो मे उसकी वही सजीवता और मार्मिकता सूर की भावुकता से जीवन्त हुई है, किन्तु इसमे आत्मीयता के बजाय आरोपित भाव हैं। वही भाव जब और वैयक्तिक तथा निजी होकर मीरा की वाणी मे ध्वनित होते है, शब्दो की लय-मानता से सांगीतिक प्रभाव और बढ़ जाता है। मीरा कहती है :

हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी, मेरा दरद न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किसविध सोणा होय।

इसकी आकुलता, दर्द और तडपन उससे भी पुरदर्द है। तुलसी मे इस तरह की भावुकता की कमी तो नही है, लेकिन उनमे सामाजिकता का आग्रह आत्मीयता से अधिक है। उन्हे सहज भावों के बजाय लोक-संग्रह, जन-कल्याण, धर्म-मर्यादा की बोझिलता मे ज्यादा आकर्षक और आस्था है। फलस्वरूप उनकी रचनाओ मे वैयक्तिक, रागात्मक अनुभूति की अपेक्षा सामूहिक चेतना का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक है। रचनाओ मे निजत्व के आरोप से सदा जान-सुनकर परहेज करते रहने के कारण लोक-सुलभ भाव और भाषा का सहज स्वरूप तुलसी मे समाविष्ट नहीं हो सका। उसका एक स्पष्ट परिणाम हम यह देखते हैं कि 'रामायण' से श्रेष्ठ रचना होने के बाद भी 'विनय पत्रिका' जन-समाज मे उतनी समादृत नहीं हुई और अपेक्षाकृत सरल तथा जीवन-निरूपक होने के कारण रामायण अधिक लोकग्राहिणी हुई।

निर्गुण-साधना की कडी मे सबसे बड़े साधक कवि कबीर हुए। इनमे गोरखनाथ का शून्यवाद, मुस्लिम एकेश्वरवाद और सूफीमत का प्रेम-तत्त्व मिलकर जिस रहस्यवादी गीति-सौन्दर्य का उन्मेष हुआ, वह स्मरणीय है। दुःखवादी बौद्ध-युग मे जो वैयक्तिक भावना 'थेरी गाथाओं' मे यत्र-तत्र झाँक उठी थी, उसका एक उन्नत रूप कबीर के पदो मे प्रकट हुआ। उदाहरण के तौर 'थेरी गाथा' की ये पंक्तियाँ देखिए :

कालका भमरवण्ण सदिसा वेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहु,
ते जराय सालवाक सदिसा सच्चवादि वचनं अन जथा।

(भौंरो के समान मेरे काले, चिकने और घुँघराले केश बुढापे के कारण आज सन और वल्कल-

जैसे हो गए हैं। परिवर्तन का चक्र इसी क्रम से चलता है। सत्यवादी की यह बात झूठ नहीं है।)

वैयक्तिक भावना की यह झाँकी कबीर में और तीव्र तथा परिष्कृत होकर सामने आई :

बालम आव हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे॥
आनन भावै नींद न आवै ग्रिह बिन धरै न धीर रे।
ज्यूँ कामी को कामिनी प्यारी, ज्यूँ प्यासे को नीर रे।

अथवा

तलफै बालम बिनु मोर जिया।
दिन नहि चैन रात नहिं निंदिया, तलफ-तलफ के भोर किया

किन्तु वैयक्तिक भावना का आरोप होते हुए भी निराकार आराध्य होने के कारण वह आत्मीयता कबीर में नहीं फूट सकी, जो कि मीरा में साकार प्रेमी के लिए आत्म-निवेदन में है। कबीर के

साईं बिन दरद करे जो होय।
दिन नहि चैन रात नहि निंदिया, कासे कहुँ दुख रोय॥

से मीरा के

दरस बिनु दूखन लागे नैन।
जब से तुम बिछुरे पिय प्यारे, कबहुँ न पायो चैन॥

में कहीं ज्यादा मार्मिकता है।

एक बड़ा दान गीति-कविता की दिशा में इस युग का यह रहा कि व्यक्ति के अपने हास-रोदन के माध्यम में सामूहिक दुःख-सुख को वाणी का रूप मिला। इन्हीं दिनों जब लोक-संवेद्य भक्ति-गीतों का प्लावन-सा आया हुआ था, लोक-जीवन की सांगीतिकता के शास्त्रीय पुनरुत्थान की कोशिशें भी समानान्तर से चल रही थीं। भाव और भाषा को साहित्यिक सुषमा का शृङ्गार दिया जा रहा था और संगीत को नई-नई राग रागिनियों का शास्त्रीय जामा। काव्य के क्षेत्र में स्वर और वाणी की समान प्रधानता चल रही थी। रीति-काल के आलंकारिक मोह से गीत-सौष्ठव को पर्याप्त धक्का जरूर लगा, किन्तु उसकी प्रतिक्रियास्वरूप भारतेन्दु युग ने गीतों के सर्वथा नवीन और ऐश्वर्यमय युग की सूचना दी। शास्त्रीय संगीत के नियमित बन्धनों में जो वाणी रुद्ध थी, भारतेन्दु की साधना से उसे मुक्ति मिली। उसी समय से शास्त्रीय संगीत के संस्कार की चेष्टाएँ शुरू हो गईं कि वह लोक-ग्राह्य भी हो सके। महाराष्ट्र के भातखण्डे-स्कूल और बंगाल के टैगोर स्कूल ने काव्य और संगीत की संगति के लिए उसका अनुकूल परिष्कार-संस्कार किया। काव्योपयुक्त सांगीतिक स्वर-योजना पर अंग्रेजी संगीत से प्रभावित रवीन्द्र की खासी छाप पड़ी और हिन्दी गीतों पर स्वर-समन्विति का वह विदेशी प्रभाव कुछ तो बंगला-गीतों के माध्यम से आया और कुछ सीधे अंग्रेजी से। यह प्रभाव संगीतात्मकता ही पर नहीं पड़ा, बल्कि काव्य के अन्तर-दर्शन पर भी उसकी पूरी छाप पड़ी। गीति कविता धीरे-धीरे सामूहिक धरातल से हटकर आत्म-निष्ठता पर केन्द्रित होती गई। उसकी पिछली संगीतमयता गौण होकर प्रधान उपजीव्य हृदय के भाव ही होते गए। जैसा कि अंग्रेजी गीत-साहित्य के लिए आलोचक हर्बर्ट रीड ने कहा है कि गीत का मूल अर्थ अब लुप्त हो गया है और गीत के मानी भावात्मक कविता हो गया है,

जिसमे भावात्मक चेतना का अनायास प्रवाह फूट उठता है।

इस प्रकार पिछले गीतों से आज की गीति-कविता सम्पूर्णतया-पृथक्-सी हो गई। भक्ति-काल के गीतों का बहुत बडा ऋण आज की गीति-कविता पर अवश्य है, किन्तु इसने अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता कायम कर ली है। वे गीत मुख्यतया गाने के लिए रचित हुए थे। प्रत्येक भक्त कवि किसी-न-किसी सम्प्रदाय का अंग था और उस हिसाब से उनके साधन-मार्ग भी साम्प्रदायिक थे। वे कवि द्वैतवादी थे, इसलिए उनका रुसार दर्शन राधा-कृष्ण के रूपक के माध्यम से प्रकट हुआ। आज की गीति-कविता मुख्यतया कविता है, संगीत नही। इसके गीतोच्छ्वास मे व्यक्ति की स्वानुभूति होती है। भक्ति-गीतो का धरातल गोष्ठीगत धर्मचेतना था—गीति-कविता की पृष्ठभूमि विश्व चेतना है। उन गीतो की अन्तर-वस्तु प्रेम था, गीति-कविता का आधार अनन्त जगत् है। तब की वैयक्तिक अनुभूति परोक्ष होती थी, अब प्रत्यक्ष। इस प्रकार स्पष्ट है कि गीति-कविता की यह उत्क्रांति मात्र स्वरूपगत ही नही है, सभी बातों, सभी दिशाओं मे है।

अंग्रेजी या बंगला के प्रभाव से जिस छायावादी कविता का उन्मेष हिन्दी मे हुआ, वह सब-की-सब इस गीति-कविता की कसौटी पर खरी उतरेगी, यह तो नहीं कहा जा सकता : किन्तु विषय, भाव और वैचित्र्य की दृष्टि से छन्द और सांगीतिकता का उसने गीति-कविता को बहुत बड़ा वैभव दिया। स्वानुभूति मात्र अपने हर्ष-शोक, विरह-मिलन के हास-अश्रु की लड़ियो का ही शृङ्गार नहीं करती— देशात्मबोध, मानवीयता, प्रकृति-चित्र, आत्मदर्शन इन सबकी विविधता की महिमा से वह ऐश्वर्यशालिनी है। नवीन छन्द, नई ध्वन्यात्मकता, नई उपमाएँ, अभिव्यंजना की नई दिशा, नई अर्थशक्ति—इन सबके समावेश से नई गीति-कविता ने हिन्दी की समृद्धि की है। जहाँ तक हमारी अपनी मान्यता है कि आरम्भिक दिनों मे छायावादी प्रयोगो मे आत्मानुभूति की तीव्रता और प्रगीतात्मकता, दोनों का समन्वय तो हुआ है, लेकिन उसमे वह गीति-सौन्दर्य नहीं है, जो गीति-कविता के लिए काम्य है। गीति-कविता की आत्मानुभूति लोक-सुलभ और उसकी सांगीतिकता सहज होनी चाहिए। इन्हीं दो गुणो के अभाव मे प्रारम्भिक छायावादी कविता का हिन्दी में विरोध हुआ। किन्तु इस सदी की दो दशाब्दी बाद शुद्ध गीति-सौन्दर्य का उन्मेष हिन्दी-कविता मे हुआ। प्रसाद और निराला उस गीति-युग के दो छोर हैं—महादेवी बीच की कड़ी। प्रसाद के गीतों का एक रूप तो उनके नाटको मे है, दूसरा स्वतन्त्र गीति-कविता मे। दोनों ही प्रकार के गीतो में प्रसाद जी का समान कृतित्व है। उनके नाटको के गीत भी स्वतन्त्र गीतों-जैसे ही हैं, जिससे दर्शकों के लिए ही वे संवेद्य नही हैं, समान रूप से आस्वादनीय भी हैं। प्रसाद जी पहले कवि हैं, बाद मे शब्दकार। गीति-योजना के अनुरूप स्वर और शब्द का समन्वय सफल शब्दकार के लिए ही विशेष सहज होता है। यह सामर्थ्य प्रसाद की अपेक्षा निराला में अधिक तेज-सम्पन्न है। किन्तु स्वर की अनुवर्तिता ने उनमे वाणी की स्व-महिमा को किसी हद तक क्षुण्ण कर दिया है। प्रसाद मे यह बात नहीं आ पाई है। उनकी 'कामायनी' के 'गीत' इस स्वर-बोझ से बोझिल नहीं है, वाणी मुक्त है। 'निराला' की 'गीतिका' के गीतो में रागात्मक उत्तेजना के स्थान पर सांकेतिक अभिव्यंजना गहरी हो गई है, तन्मयता के बजाय संगीतमयता प्रधान हो गई है। महादेवी मे अरूप प्रियतम के प्रति आत्म-निवेदन की करुण-सजलता और उत्सर्ग-भावना ने कैसी तो अस्पष्टता ला दी है। अरूप के प्रति ऐसा आत्म-निवेदन तो कबीर में भी है, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति एक ऐसी भाव-भूमि पर हुई है जो लोक-सामान्यता

के समीप है। मीरा के आत्म-निवेदन की भी यह विशेषता है कि वह उन कृष्ण के प्रति है, जिसकी भावना लोक-जीवन का अंग थी। महादेवी इन दोनों के परे नितांत एकान्तिक हैं। किन्तु उनकी रचनाओं में वाणी की प्रधानता और चित्रात्मकता का अनोखा सौन्दर्य है, इसलिए उनमें रस और सौन्दर्य का अपूर्व सम्मिलन घटित हुआ है।

पन्त में प्रगीतात्मक सामर्थ्य अद्भुत है, गीति-प्रतिभा अपेक्षाकृत कम। जहाँ तक शब्द-सौन्दर्य, चित्रात्मकता, लाक्षणिक वैभव, ध्वन्यात्मकता, इन बातों का प्रश्न है, पंत अद्वितीय हैं। किन्तु जिस तीव्र आत्मानुभूति से गीति-कविता का जन्म होता है पंत में उसका अभाव है। जो भी हो, गीति-कविता का यह युग स्वर्ण-युग है। हिन्दी में गीति-सौन्दर्य की ही समृद्धि नहीं हुई, नये छन्दों की उद्भावना और मानसिक भावों के वैचित्र्य से कविता का कलेवर निखरा। इनके अतिरिक्त द्विज, नेपाली, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा आदि ने अपनी रचनाओं से उसके वैचित्र्य के ऐश्वर्य को और बढ़ाया। गीति-कविता के वर्गीकरण के मुताबिक सम्बोधन-गीति, शोक-गीति, व्यंग-गीति, चतुर्दश पदी आदि सभी अंगों पर हिन्दी में सफल रचनाएँ हुई हैं और अभी हो रही हैं—सम्भवतः और समर्थ प्रतिभा इस दिशा में आगे आये। फिर भी हमें स्वीकार करना पड़ता है कि गीति-कविता अपने चरमोत्कर्ष पर अभी नहीं पहुँची है। उसमें जिस सर्वजन-संवेद्य विशेषता की अनिवार्यता है, वह गुण अभी इसमें नहीं आ पाया है, न संवेदनीयता में, न सागीतिकता में। अतएव अभी हमें उस दिन की अपेक्षा है, जब गीति-कविता लोक-जीवन से घुल-मिल जाय और कवियों की वाणी जन-जन के अधरों पर थिरक उठे। किन्तु भावात्मक कविता के प्रति लोक-जीवन ग्राह्य न होने का दोष लगाकर जो एक बुद्धिवादी प्रतिक्रिया आज सामने है, उससे इस परम्परा के रूप को शायद कुछ ठेस पहुँचे। किन्तु इतना निर्विवाद है कि भावना नहीं मरेगी और इसलिए भावात्मक रचनाओं का भविष्य-जीवन भी सुरक्षित है। कभी जिस बुद्धिवाद के प्रति विद्रोह से अंग्रेजी में रोमांटिक काव्य का जन्म हुआ था आज उसी के प्रति बुद्धिवाद के विद्रोह की पुनरावृत्ति देखी जाती है, किन्तु भावुकता वहाँ भी जीवित रह जाती है।



जगदीशचन्द्र माथुर

हिन्दी रंगमंच और नाट्य-रचना का विकास

शायद भारतेन्दु के निबन्ध 'नाटक' के आधार पर यह माना जाता कि है हिन्दी-भाषा मे सर्वप्रथम नाटक सन् १८६२ मे काशी मे 'जानकी मंगल' नाम से खेला गया। कुछ विद्वान् अवध के नवाब वाजिदअली शाह के दरबार मे १८५३ मे खेले गए उर्दू कवि अमानत-विरचित 'इन्दरसभा' मे लिखित रंगमंचीय नाटको का सूत्रपात देखते है। लिखित नाटको मे इससे पूर्व तीन और रचनाओ का नाम लिया जाता है, एक तो १६४३ ई० के लगभग जोधपुर-नरेश जसवन्तसिंह द्वारा किया हुआ संस्कृत-नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय' का हिन्दी अनुवाद, दूसरा १७०० के लगभग रीवॉ-नरेश विश्वनाथसिहजू द्वारा लिखित मौलिक नाटक 'आनन्द रघुनन्दन'[1] और तीसरा १८४१ ई० में भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र द्वारा प्रणीत 'नहुष' नाटक। किन्तु इन तीनो नाटको के रंगमंच पर खेले जाने का कोई प्रमाण नही मिलता, खेलने के लिए शायद ये लिखे ही नहीं गए।

अनजाने ही हिन्दी-समालोचको और इतिहासकारो ने इन मान्यताओ के आधार पर हिन्दी-नाट्य-रचना और रंगमंच के इतिहास को सकुचित और अल्पसीमित कर दिया है। वस्तुतः यह इतिहास काफ़ी पुराना है और भक्तिकालीन काव्य का उषा-काल हिन्दी-नाट्य-रचना और रंगमंच का भी सुप्रभात माना जाना चाहिए। दोनो को प्रेरणा मिली उस विराट् वैष्णव आन्दोलन से जिसने १३ वीं सदी से लेकर तीन शताब्दियो तक उत्तर-भारत को आप्लावित कर रखा, जिसने भारतीय संस्कृति और समाज मे रसानुभूति और भावोन्मेष की बाढ-सी उपस्थित कर दी और जिसके प्रभावस्वरूप भारतीय चिन्तन-धारा ने एक युगान्तरकारिणी नई दिशा पकडी। उस उल्लास की वाणी केवल भगवद्-भक्ति से भरे-पूरे पद और आख्यान ही नही थे। भक्ति-भाव को जाग्रत करने के लिए भगवान् की लीलाओ का नाटकीय प्रदर्शन अत्यन्त सफल और आकर्षक साधन था। भगवान् के जिस रूप की प्रतिष्ठा भक्ति-युग मे हुई वह उनका हॅसता-खेलता, अथवा प्रेम-क्रीड़ाओ मे निमग्न अथवा सतत कर्म-रत आदर्श रूप था। स्पष्ट है कि एक आकर्षक और लोकप्रिय रंगमंच के लिए प्रचुर सामग्री इस तरह प्रस्तुत हो गई। वैष्णव जागृति द्वारा धर्म का जो रूप विकसित हुआ वह लोकाश्रयी था—जनसाधारण की प्रवृत्तियो के सहारे ही उसका उत्कर्ष हुआ। इसलिए दुरूह आध्यात्मिक सिद्धान्तो की माध्यम—संस्कृत की अपेक्षा 'देशी' भाषाओं में ही इस नवीन रंगमंच के लिए नाटको की मॉग हुई। पश्चिम मे ब्रजभाषा, मध्यदेश मे अवधी और पूर्व में मैथिली—इन 'देशी' भाषाओं मे भक्तवत्सल भगवान् की लीलाओ का नाटकीय प्रदर्शन किया जाने लगा। इस रंगमंच के मुख्यतः दो क्षेत्र थे—मन्दिर और राज-दरबार। वैष्णव रंगमच की पश्चिमी शाखा मन्दिरो और उसी भॉति के अन्य धार्मिक स्थानो में विकसित हुई और

१. विश्वनाथसिंहजू ने कदाचित् एक और नाटक 'गीता रघुनन्दन' की भी रचना की थी।

पूर्वी शाखा प्रायः राज-दरबारों में। मन्दिरों में प्रचलित रंगमंच के मुख्य रूप थे रासलीला और रामलीला, और ये दोनों ही रूप आजतक धार्मिक लोक-रंगमंच की परम्परा को कायम रखते रहे है। रासलीला का प्रथम आयोजन वल्लभाचार्य द्वारा किया माना जाता है, रामलीला का श्रीगणेश स्वय तुलसीदास जी ने किया—ऐसी कुछ लोगों की धारणा रही है। ये दोनों धारणाएँ ऐतिहासिक तथ्य पर अवलम्बित है या नहीं यह विवादास्पद हो सकता है। लेकिन इन विश्वासों की तह में एक महान् साहित्यिक सत्य छिपा पडा है। इन दोनों महापुरुषों ने कृष्ण और राम की जो दो धाराएँ प्रवाहित की उनका, उदीयमान और लोकप्रिय वैष्णव-रंगमंच से सीधा सम्बन्ध था। मेरा तो विचार है कि बहुतांश में सूरदास की पदावली dramatic lyrico थी और तुलसीदास का प्रबन्ध-काव्य dramatic narrati ve. सूरदास के अनेक पदों की शैली से साफ जाहिर होता है कि विशेष पात्रों द्वारा गाये जाने के लिए शायद वे लिखे गए। इन्हे फुटकर कविता-मात्र समझना स्वयं कवि और तत्कालीन परिस्थिति के प्रति अन्याय करना होगा। रामलीला और कृष्णलीला के कथानक तो सर्वविदित थे ही; उनमें नवीनता के आरोपण की गुन्जाइश ही न थी। किन्तु पात्रों के सवादों में चमत्कार और रस का समावेश किया जा सकता था। सम्भवतः कृष्ण-काव्य के ये स्फुट पद इसी माँग को पूरा करने के लिए लिखे गए। इन 'संवादों' को एक सूत्र में बाँधने वाली कडी—यानी सूत्रधार के संकेत, आगमन और प्रस्थान की सूचनाएँ कथानक की गति—का कोई ब्यौरा नहीं मिलता। जान पडता है ये सब निर्देश मौखिक हुआ करते थे जैसा रामलीला में आज तक होता है। 'रामचरितमानस' के अनेक संवाद तो छोटे-मोटे एकाकी नाटक ही जान पड़ते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार 'अयोध्या काड' में घटनाओं का गुम्फन, चरित्र-विकास, आन्तरिक और बाह्य द्वन्द्व एवं करुणा रस का पर्यवसान—इन सभी नाटकीय अंगों का निरूपण इस खूबी के साथ हुआ है कि उसे यूनानी दुःखान्त नाटकों की श्रेणी में रखा जा सकता है! जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि 'रामचरितमानस' के कवि की नजर बराबर रामचन्द्र की लीलाओं के नाटकीय प्रदर्शन की ओर रही है, समूचा कथानक सवादों के माध्यम से अनावृत हुआ है और कई स्थलों पर विभिन्न प्रकृति के पात्रों द्वारा तर्कपूर्ण शैली में वार्तालाप का प्रयोग रंगमंच के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। रामलीला-रंगमच की कतिपय विशेषताएँ उसे यूरोप के Pasion Plays के समकक्ष रख देती हैं। उत्तर प्रदेश के कई नगरों में रामलीला-प्रदर्शन एक ही मंच एवं प्रेक्षा-गृह में न होकर भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपेक्षित दृश्य के अनुकूल वातावरण और पूर्वस्थित पृष्ठभूमि से लाभ उठाते हुए किया जाता है। वनवास तक की लीलाएँ मन्दिरों में होती हैं: गंगापार के लिए नगर के किसी जलाशय अथवा नहर को चुना जाता है। चित्रकूट और उनके बाद की लीलाएँ नगर के बाहर एक विस्तृत मैदान को घेरकर की जाती है; भरत-मिलाप और राजतिलक के लिए पुनः मंडली नगर को वापस आती है। इस तरह रामलीला का रंगमच अपने ढग का यथातथ्यवादी (realistic) रंगमंच है और साथ ही वस्तु-विषय की महत्ता का द्योतक भी। लोक-परम्परा से भी रामलीला—रंगमंच ने बहुत-कुछ पाया, विशेषतः परिहास के प्रसंग और पात्र। किन्तु 'रामचरितमानस' इन अभिनयों का प्राण बराबर रही और इसी कारण रामलीला में लोक-रंगमच का साहित्यिक रूप सुरक्षित रहा है, रामलीला की ही भाँति।

फिर भी यह मानना पड़ेगा कि वैष्णव-रंगमंच की यह पश्चिमी शाखा नाटक के मौलिक रूप और उसकी विशेषताओं को अक्षुण्ण न रख सकी; कालान्तर में ब्रज-मंडल के गीत-नाट्य के

पद, भक्त-गवैयो के लिए गीत-काव्य बनकर रह गए। रंगमंच से उनका नाता टूटता चला गया। १८ वीं सदी तक आते-आते तो कवि गायक से भी विमुख हो चला। उधर यह रंगमंच ह्रासोन्मुख लोक-जीवन से पाथेय लेता हुआ चलता रहा, किन्तु सुरुचि और उदात्त भावनाओ का बहिष्कार एवं वाह्याडम्बर की बहुलता इस रंगमंच की विशेषताएँ थीं। इस तरह एक महान् नाट्य-रचना-शैली की सम्भावनाएँ नष्ट हो गईं। कारण स्पष्ट है;—राज्य-संरक्षण का अभाव! सुव्यवस्थित रंगमंच और साहित्यिक नाट्य-लेखन संरक्षण के सहारे पनपता है।

वैष्णव-रंगमन्च की पूर्वी शाखा को यह संरक्षण उपलब्ध था। १५ वीं सदी से लेकर १८ वीं सदी के बाद तक मिथिला, नेपाल और आसाम मे हिन्दी की समृद्ध और प्यारी उपभाषा—मैथिली मे ३५ से ऊपर उच्चकोटि के नाटककारों एवं कवियों ने १०६ से ऊपर नाटकों की रचना की जो सभी उस रमणीक वैष्णव-रंगमंच पर खेले गए और मैथिली एवं हिन्दी-साहित्य की अमर निधि बन गए। आश्चर्य है कि किसी भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे इन नाटकों और इस शैली का उल्लेख नही मिलता, यद्यपि मूलतः ये विद्यापति की पदावली की परम्परा मे ही लिखे गए, और विद्यापति की गणना हिन्दी के आदिकवियो मे होती है। वस्तुतः विद्यापति ही इस शाखा के प्रथम नाटककार माने जा सकते हैं, हाल ही मे प्राप्त उनका 'गोरक्ष-विजय नाटक' इस शैली का शायद सबसे पहला नमूना है। जिस समय दिल्ली और लगभग सारे उत्तरी भारत मे मुसलमान बादशाहत के अन्तर्गत-भारतीय संस्कृति के वे रूप, जिनमे बुतपरस्ती की गन्ध आती थी, राज्याश्रय से वंचित होकर द्रुत गति से क्षीण होते जा रहे थे, उत्तरी-पूर्वी कोण मे— मिथिला, नेपाल और आसाम के अंचल मे कुछ हिन्दू राज-वंश, बादशाहत के प्रभाव से दूर रहकर भारतीय संस्कृति के इन मनोरम रूपो को सुरक्षित रख सके। १४ वीं सदी के प्रारम्भ मे मिथिला के कर्णाट-वंश के अन्तिम नरेश हरिसिंह देव मुसलमानो से पराजित होकर नेपाल गए, ऐसा कुछ विद्वानो का विश्वास है। कुछ भी हो मिथिला से पंडित, संगीतज्ञ और नटो इत्यादि का नेपाल मे आगमन उसी समय के आस-पास हुआ, और कुछ ही वर्षों के उपरान्त नेपाल के मल्लवंशीय नरेशो द्वारा मैथिल-परम्परा मे रंगमंच की वैभवपूर्ण स्थापना हुई। इस वंश के सात राजाओ के द्वारा अथवा उनके आश्रित कवियों द्वारा अनेक नाटकों की रचना हुई, जिनमे विशेष उल्लेखनीय है—जगज्ज्योतिर्मल्ल (सन् १६१८-१६३३) का 'कुञ्जविहारी नाटक', सुमतिजितामित्रमल्ल (१६८२-१६६५) का 'मदालसा हरण', भूपतीन्द्रमल्ल(१६६५-१७२२) का विशालकाय 'महाभारत' और रणजीतमल्ल (१७२२-१७७२) का 'माधवानल काम कंदला'। मल्ल-वंश के राजाओ के अतिरिक्त नेपाल मे उनके समकालीन तीन और राज-कुल थे जिनके सरक्षण में रंगमच का यथेष्ट विकास हुआ। काठमंडू के राज-कुल के आश्रय मे वंशमणि झा ने 'गीत दिगम्बर' नाटक की रचना की। ललितपुर अथवा पाटन के राज-कुल के सिद्ध नरसिंहदेव के समय मे किसी अज्ञात लेखक ने 'चण्डकौशिक' के आधार पर १६५१ मे 'हरिश्चन्द्रनाट्यम्' की रचना की (इस नाटक से भारतेन्दु के 'सत्यहरिश्चन्द्र' का मिलान अध्येताओ के लिए रोचक विषय होगा।) बॉकियापुर के राज-कुल मे जयरणमल्ल के समय में जयरामदत्त द्वारा 'पाण्डव-विजय' नामक नाटक की रचना हुई। इधर मिथला मे कर्णाट वंश की क्षय के बाद विद्यापति के आश्रयदाता, ओइनवार-वंश के राज-कुल ने देशी भाषा के रंगमन्च के लिए पृष्टभूमि तैयार कर दी, वैष्णव काव्य-धारा को प्रोत्साहन देकर मैथिली नाट्य-परम्परा की उद्भावना तो बाद मे खण्डवकुल (वर्तमान दरभंगा-नरेश) की स्थापना

होने पर ही हुई। इन नरेशों ने वैष्णव-रंगमंच को स्थायी और [illegible] १६ नाटककारों ने एक पुष्ट रंगमंच की माँग को पूरा करने के लिए [illegible] १६ वीं सदी के अन्त तक यह ताँता चलता रहा। कुछ रचनाओं के नाम [illegible] का 'आनन्द-विजय' नाटक (१६५०), देवानन्द का 'उषा-हरण', [illegible] जात-हरण' (१७००), रमापति उपाध्याय का 'रुक्मिणी [illegible]' [illegible] का 'गौरि-स्वंयवर', नन्दीपति का 'श्रीकृष्णकेलिमाला', गोकुलानन्द का [illegible] गायक का 'श्रीकृष्ण जन्म रहस्य' इत्यादि-इत्यादि। इनमें [illegible] का 'पारिजात-हरण' और इसके विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण बात है [illegible] छत्रमाल-वंश के किन्हीं हिन्दूपति नामक राजा के दरबार के लिए [illegible] अभिनय हुआ। मिथिला के इन 'कीर्तनिया' नाटकों ([illegible] से मिलते-जुलते लेकिन उनसे कहीं पहले आसाम में [illegible] 'अंकिया नाट' [illegible] वैष्णव नाटकों की रचना हुई। प्रसिद्ध आसामी वैष्णव शंकरदेव ([illegible]) [illegible] नाटकों की भाषा मैथिली शायद इसलिए रखी कि [illegible] क्रीड़ास्थली ब्रजमण्डल की भाषा के बहुत निकट थी। 'अंकिया नाटों' [illegible] शंकरदेव का 'कालियदमन', माधवदेव का 'अर्जुनभंजन', गोपालदेव का [illegible] ठाकुर का 'कंस वध'। 'अंकिया नटों' का उत्कर्ष [illegible] स्थापित होने के बाद हुआ, विशेषतः राजा नर नारायण के [illegible]।

इस नाट्य-साहित्य और उसके रंगमंच-सम्बन्धी [illegible] हैं कि उसके अध्ययन के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता [illegible]। [illegible] रंगमंच और नाटक की इस पूर्वीय शाखा (जिसे कीर्तनिया नाटक [illegible] जान पड़ता है) की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है : (१) [illegible] में लिखे गए और इनके द्वारा राज-दरबारों में रंगमंच की प्राचीन [illegible] रही। (२) इन नाटकों में दो रचना-प्रणालियों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है, संस्कृत-नाट्य-रचना, और [illegible] काव्य-धारा, जिसने कीर्तनों का रूप लिया था। आसाम को छोड़कर अन्य [illegible] इन नाटकों का प्रारम्भ संस्कृत नाटकों के रूप में ही हुआ, जिनमें यत्र-तत्र हिन्दी (मैथिली) गीतों का समावेश किया जाता था। ये गीत विद्यापति की शैली में लिखे जाते थे, राग रागिनियों का उल्लेख होता था। गद्य, संवाद और संकेत संस्कृत और प्राकृत में ही होते थे। धीरे-धीरे इस मिश्रित शैली के स्थान पर शुद्ध मैथिली का प्रयोग होने लगा। आसाम में जहाँ वैष्णव-आन्दोलन की भावना तीव्र थी, प्रारम्भ से ही गद्य और पद्य दोनों की भाषा मैथिली थी। (३) यद्यपि राज-दरबारों से इस रंगमंच को आश्रय मिला तथापि दर्शकों में प्रत्येक वर्ग की जनता होती थी; वास्तव में तो कीर्तनिया-रंगमंच प्रारम्भ से ही गरीब-अमीर, ब्राह्मण-शूद्र—सभी प्रकार की जनता के मनोरञ्जन और शिक्षा का साधन बन गया। (४) इन नाटकों के कथानक प्रायः श्रीमद्भागवत, हरिवंशपुराण एवं महाभारत से लिये गए हैं। कृष्ण-लीला, रुक्मिणी हरण, शिव-विवाह इत्यादि विषयों पर बार-बार नाटक लिखे गए। कथानक-वैचित्र्य की ओर न रचयिताओं का ध्यान था, न दर्शकों का। (५) राज-पण्डितों और स्वयं राजाओं ने जो नाटक लिखे उनका नाट्य विधान सुव्यवस्थित और संस्कृत नाटक के नियमानुसार होता था। किन्तु अन्य नाटकों

मे विशेषतः आसाम की रचनाओ मे शिल्प-विधान स्वच्छन्द होता चला गया; रंगमंच की आवश्यकताएँ बदल गईं। सूत्रधार और नटी प्रस्तावना के बाद भी पूरे अभिनय-भर मंच पर मौजूद रहने लगे; दृश्य-परिवर्तन के लिए पर्दे इत्यादि की सुविधाएँ थी नहीं, इसीलिए सूत्रधार और नटी (आसामी नाटक मे 'संगी' का भी उल्लेख है) गीतो के बीच मे कथा का सूत्र कायम रखते थे; उनका आशय समझाते चलते थे और बीच-बीच मे विविध टिप्पणियाँ भी करते जाते थे। बाद के मैथिल नाटको मे सूत्रधार के स्थान पर "नटरग" कहलाने वाले पात्रो का प्रयोग हुआ। इस तरह "साहित्यिक" और साधन-सम्पन्न रंगमंच का रूप लोक-रंगमंच के रूप मे बदलता गया। (६) इन नाटको मे ऐसी परिस्थितियो का प्रायः आरोपण किया जाता था जिनमे लोक-जीवन मे प्रचलित रीति-रिवाजो और उत्सवो को प्रदर्शित किया जा सके। यो रंगमंच मिथिला के सामाजिक जीवन का एक प्राणवान अंग बन गया। (७) संगीत इस रंगमच और नाटको का प्राण था; 'आर्केस्ट्रा' इसका आवश्यक अंग था और क्या लेखक, क्या सूत्रधार, क्या अभिनेता सभी को सगीत-विशारद होना अनिवार्य था, वस्तुतः कीर्तनिया नाटक और पाश्चात्य 'ओपरा' में यदि कोई अन्तर था तो यही कि कीर्तनिया नाटक का काव्य साहित्यिक मापदण्ड से भी उच्चकोटि का उतरता है; नही तो दोनो की रूपरेखा एक ही-सी है।

× × ×

१६ वीं सदी में भारतेन्दु के नेतृत्व मे जो हिन्दी-नाटक और रंगमच का पुनर्संगठन हुआ उस पर सीधा प्रभाव तो वैष्णव-रंगमंच की इन दोनो शाखाओ ने शायद कुछ नहीं डाला; भारतेन्दु ने शायद मैथिली नाटको को देखा भी नहीं था, और रामलीला एवं रासधारी लीलाओ के तत्कालीन रूप को उन्होने भद्दा और कला-विहीन पाया होगा। परन्तु भारतेन्दु को बंगला-रंगमंच और नाटक से बहुत-कुछ प्रेरणा मिली और उनके रूपान्तरित नाटको मे सर्वप्रथम 'विद्यासुन्दर' (सन् १८६८) इसी नाम के बंगला-नाटक का छायानुवाद था। 'विद्यासुन्दर' की कथा पर सन् १७२० मे ही नेपाल के भूपतीन्द्रमल्ल ने 'विद्या-विलाप' नामक नाटक की रचना की और बाद मे बंगाली "जात्राओ मे" यह एक अत्यन्त लोकप्रिय कथानक हो गया। "जात्राएँ" कीर्तनिया नाटकों का ही लोकपक्षीय और बहुत-कुछ भ्रष्ट रूप थीं, और जात्रा-रंगमंच का बहुत व्यापक और गहरा प्रभाव बंगाली रंगमंच और नाट्य रचना पर पड़ा। 'सत्यहरिश्चन्द्र' भी एक बंगला-नाटक का छायानुवाद है और हम ऊपर देख चुके है कि सन् १६५१ ही मे मैथिली में 'हरिश्चन्द्र नाट्यम्' की रचना हो चुकी थी। भारतेन्दु ने वैष्णव-नाट्य-शैली की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता को अपनाया; उन्होने अंको और दृश्यो के बीच-बीच मे राग-रागिनयो मे ढले हुए गीतो को स्थान दिया। 'मुद्राराक्षस' के उपसंहार मे ऐसे गीतों का संग्रह दिया हुआ है। गीतों की इस मनोहर परम्परा को परवर्ती नाटककारो ने त्यागकर हिन्दी नाट्य-शैली को नीरस और रंगमंच को लोक-रुचि से दूर कर दिया।

भारतेन्दु ने अपने साहित्यिक जीवन के केवल १८ वर्षो मे (१८६७ से १८८५ तक) हिन्दी-नाटक को पुनः साहित्यिक क्षेत्र मे प्रतिष्ठित किया, विभिन्न नाट्य-शैलियो का समन्वय किया और अव्यावसायिक यानी 'एमेचर' रंगमंच की नींव डाली। भारतेन्दु के नाटको की रूप-रेखा संस्कृत-नाटको की अनुगामिनी थी, यद्यपि वस्तु-विषय के चुनाव मे उन्होंने आधुनिक रुचि का परिचय दिया है, और अनुवाद भी उन नाटको का किया जिनमे तत्कालीन सामाजिक और

राजनीतिक परिस्थिति से कुछ साम्य दिखाया जा सके। 'भारत-दुर्दशा'-जैसे आधुनिक समस्याओं के नाटक पर भी संस्कृत के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक की शैली की स्पष्ट छाप है। उनकी अपूर्ण नाटिका 'प्रेम जोगिनी' मे आधुनिक यथातथ्यवादी (Realistic) नाट्य-शैली के बीज विद्यमान् है, 'भारत जननी' और अन्य नाटको मे भी उगती हुई राष्ट्रीय भावनाओ की झाँकी मिलती है, जो परवर्ती नाटककारो की प्रमुख प्रेरणा बनी।

नाट्य-रचना की एक समन्वित शैली की स्थापना करने के अतिरिक्त भारतेन्दु ने दो बड़े काम किये, पहला तो उन्होने अपने प्रभाव से नाट्यकारो का एक दल बना लिया, उनके इन मित्रो, शिष्यो और सम्बन्धियो द्वारा हिन्दी मे नाटक-लेखन की परिपाटी चल निकली। इस भारतेन्दु-स्कूल के नाटककारो मे मुख्य ये थे :—'सीता हरण' के लेखक देवकीनन्दन त्रिपाठी, 'कृष्ण-सुदामा' के रचयिता शिवनन्दनसहाय, 'रुक्मिणी परिणय' के लेखक अयोध्यासिह उपाध्याय, 'श्रीदामा' और 'अमरसिह राठौर' के लेखक राधाचरण गोस्वामी, 'दमयन्ती स्वयंवर' और 'वेणु-संहार' के लेखक बालकृष्ण भट्ट, 'रणधीर, प्रेममोहिनी' के रचयिता लाला श्रीनिवासदास, 'दुखिनी बाला' और 'महाराणा प्रताप' के लेखक राधाकृष्णदास, 'मयंक-मजरी' और 'नाट्यसम्भव' के रचयिता किशोरीलाल गोस्वामी इत्यादि-इत्यादि। इनमे से किसी मे भारतेन्दु की प्रतिभा तो नही थी; राष्ट्रीय भावना और उपेक्षात्मक प्रवृत्ति प्रबल थी; फिर भी 'रणधीर, प्रेममोहिनी'-जैसे नाटकों मे शृङ्गार रस का मार्मिक निरूपण मिलता है। आश्चर्य की बात यह है कि भारतेन्दु के देहान्त के बाद धीरे-धीरे इनमे से अधिकतर लेखक नाटक के क्षेत्र से हटकर कवि या उपन्यासकार बनकर रह गए। इसका एक कारण तो यह था कि खडी बोली मे कविता और उपन्यास दोनो नवीन क्षेत्र थे जिनकी ओर प्रतिभावान् साहित्यिको का आकर्षित होना स्वाभाविक था। दूसरे भारतेन्दु की भाँति इन सभी लेखको का रंगमंच से सीधा सम्पर्क स्थापित नही हो पाया। जो भारतेन्दु द्वारा चलाए हुए रगमच के निकट थे वे नाटक के सम्मोहन से दूर नहीं भटके।

यह अव्यावसायिक रंगमच भारतेन्दु की हिन्दी को एक अनूठी देन है, और इसका जन्म व्यावसायिक पारसी-रंगमंच के उत्तर-स्वरूप हुआ था। पारसी-रंगमंच अमानत के 'इन्दर सभा' वाली परिपाटी का उत्कर्ष था। यद्यपि 'इन्दर सभा' मे उर्दू के प्रेम-काव्य और गीत-प्रणाली पर कुछ भारतीयता की छाप थी, मूलतः वह रंगमंच यूरोप की 'ऑपरा' शैली से प्रभावित था। पारसी-रंगमंच तो बिलकुल ही छिछले पाश्चात्य 'फैशन' की नकल मे आयोजित किया गया; उसने यूरोपीय रंगमन्च से केवल उसकी ऊपरी छटा ग्रहण की, आत्मा नही। सन् १८७० के आस-पास पेस्टनजी फ्रामजी ने 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' की स्थापना की; १८७७ मे खुरशीदजी बल्लीवाला ने दिल्ली में 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी' खोली, जिसे एक बार वे विलायत भी ले गए। कावमजी खटाऊ ने 'एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' भी इन्ही दिनो खोली। उसके बाद तो एक के बाद एक 'न्यू एल्फ्रेड कं०', 'ओल्ड पारसी थियेट्रिकल कम्पनी', 'एलेक्जेंड्रिया कम्पनी', 'कोरिथियन कम्पनी' इत्यादि अनेक व्यावसायिक मंडलियाँ खुलीं और कलकत्ता, बम्बई और उत्तर-भारत के बडे नगरो मे उनका बोल-बाला १९२५ ई० के आस-पास तक चलता रहा। पारसी-थियेट्रिकल कम्पनियो का प्रचार क्यों इतनी तेजी से हुआ, इसका एक प्रधान कारण यह था कि देश के जिस भाग में ये नाटक दिखाये गए वहाँ शताब्दियो के बाद एक रंगमंच जनता के सम्मुख आया; और कोई रंगमंच वहाँ था ही नहीं, सदियों की दबी हुई तृष्णा को जगाकर इस

रंगमंच ने उससे लाभ उठाया। यह ध्यान देने योग्य विषय है कि मिथिला, उड़ीसा, आसाम इत्यादि प्रदेशों में जहाँ एक रंगमंच पहले से मौजूद था, पारसी-रंगमंच हाथ-पैर नहीं फैला सका।

इसीलिए भारतेन्दु ने जन-साधारण की रंगमंच की तृष्णा को तृप्त करने के लिए पारसी-कम्पनी के जवाब में अव्यावसायिक मंडलियों की स्थापना की। किन्तु अव्यावसायिक रंग-मंच, व्यावसायिक रंगमंच से लोहा ले ही नहीं सकता। यदि उस समय उत्तरी भारत में भारतेन्दु को ऐसे सेठ मिल जाते जो रंगमंच के लिए कुछ रुपया लगा पाते तो शायद आज हिन्दी-रंगमंच का इतिहास भिन्न होता। फिर भी अव्यावसायिक अभिनयों की चाल शुरू करके भारतेन्दु ने साहित्यिक नाटकों के लिए प्रयोगशालाएँ उपस्थित कर दीं और इन प्रयोगशालाओं के सहारे ही अब तक हिन्दी-नाटक अपना अस्तित्व बचा सका है, भारतेन्दु के बाद १८२८ के आस-पास कानपुर में एक उत्साही नाटक-मंडली स्थापित हुई, प्रयाग में पं० माधव शुक्ल और उनके सहयोगियों के उद्योग से पहले 'श्रीरामलीला नाटक-मंडली' (१८९८ ई०) और बाद में 'हिन्दी-नाट्य-समिति' (१९०८) का जन्म हुआ। इन मंडलियों द्वारा 'सीयस्वयंवर', 'महाराणा प्रताप' और 'महाभारत' पूर्वार्द्ध-जैसे नाटक अभिनीत हुए। काशी में १९०६ में भारतेन्दु के घराने के बृजचन्द जी और अन्य व्यक्तियों के उद्योग से 'भारतेन्दु-नाटक मण्डली' और 'काशी-नागरी-नाटक-मण्डली' की स्थापना हुई। ये मण्डलियाँ १९७६ तक गतिशील रहीं और न सिर्फ भारतेन्दु के रूपकों बल्कि और भी नाटकों का (जिनमें पौराणिक नाटकों की प्रधानता थी) अभिनय इनके द्वारा हुआ। कलकत्ता में 'हिन्दी-नाट्य-परिषद्' के नाम से पं० माधव शुक्ल ने एक और अव्यावसायिक मण्डली स्थापित की जिसने बरसों तक अनेक नाटक खेलकर ख्याति प्राप्त की। इन अव्यवसायिक मण्डलियों पर भारतेन्दु की रंगमंच-शैली की छाप बराबर रही। परदे और मंच-विधान तो पारसी ढंग पर ही रहे थे, किन्तु चमत्कारपूर्ण दृश्यों के प्रदर्शन पर इतना जोर नहीं दिया जाता था जितना भाषा की शुद्धता, सुरुचिपूर्ण गीतों और आदर्शोन्मुखता पर। इन अभिनयों में अनेक सम्भ्रान्त व्यक्ति भाग लिया करते थे। आश्चर्य का विषय है कि अव्यावसायिक रंगमंच का यह रूप १९२५ के बाद से बदलने लगा; सयाने व्यक्तियों ने नाटकों में हिस्सा लेना छोड़ दिया और अव्यावसायिक रंगमंच धीरे-धीरे छात्रों का क्षेत्र समझा जाने लगा इस परिवर्तन के फल-स्वरूप आगे चलकर यह रंगमंच अधिक प्रयोगशीलता और 'बुद्धिवादिता' की ओर झुका।

सन् १९२०-२५ तक पारसी-रंगमंच और भारतेन्दु-परम्परा के अव्यावसायिक रंगमंच के लिए जिन लेखकों ने नाटक तैयार किये उन्हें दो स्पष्ट वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पारसी-रंगमंच के लिए लिखने वालों की श्रेणी में आगा हश्र काश्मीरी, पं० राधेश्याम, नारायणप्रसाद 'बेताब', तुलसीदत्त 'शैदा' और हरिकृष्ण 'जौहर' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। भाषा इनकी हिन्दुस्तानी होती थी; गद्य वार्तालाप के साथ फड़कते हुए शेर अनिवार्य थे; उत्तेजनापूर्ण वाक्य और चमत्कारपूर्ण दृश्य तथा मुख्य कथानक के बीच में प्रहसन इन नाटककारों के विशेष नुस्खे थे। इस शैली के नाटक में कदाचित् सबसे अधिक सफल राधेश्याम पाठक के 'वीर अभिमन्यु' को माना जा सकता है, क्योंकि उसकी भावुकता की तह में लेखक की सच्ची अनुभूति का आभास होता है। दूसरे वर्ग के लेखकों को भारतेन्दु-शैली के ही अन्तर्गत माना जा सकता है, क्योंकि उनकी कृतियों में उन्हीं गुणों का विकास मिलता है जिनकी झाँकी भारतेन्दु और उनके समकालीन

नाटककारो के नाटको मे मिल चुकी है। 'कुरु-वन-दहन' और 'चुङ्गी की उम्मीदवारी' इत्यादि के लेखक बद्रीनाथ भट्ट इस वर्ग के प्रमुख लेखक थे। प० माधव शुक्ल इस परिपाटी के प्राण ही थे, यद्यपि नाटक उन्होंने दो ही लिखे—'सीय स्वयंवर' और 'महाभारत' (पूर्वार्द्ध)। आनन्दप्रसाद खत्री, जमनादास मेहरा, दुर्गाप्रसाद गुप्त और हरिदास माणिक के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इस श्रेणी के नाटको मे सर्वोत्कृष्ट पं० माखनलाल चतुर्वेदी-विरचित 'कृष्णार्जुन-युद्ध' को माना जायगा, क्योंकि इसमे तत्कालीन रगमंचीय विधान का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए भी साहित्यिक परम्परा का पूर्ण-रूपेण निर्वाह हुआ है।

× × ×

यह थी वह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि जिसके धूमिल और अस्पष्ट होते हुए पटल पर जयशंकर 'प्रसाद' बिजली की तरह कौंधकर अन्तर्हित हो गए। क्या हिन्दी नाटक और रंगमंच की परम्परा से उनका कोई भी सम्बन्ध था? अपने समकालीन रंगमंच की उन्होंने अवहेलना की, यह तो स्पष्ट है ही। भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने नाट्य-रचना की जो परिपाटी स्थापित की थी वह प्रसादजी को स्वीकार्य न थी। 'चन्द्रगुप्त' और 'मुद्राराक्षस' की तुलना से यह वैषम्य साफ ही दृष्टिगत होता है। किन्तु गहराई से देखने पर जान पड़ेगा कि 'प्रसाद' ने भारतेन्दु-युग की तीन मूल्यवान परम्पराओं—राष्ट्रीय भावना, आदर्शोन्मुखता और जीवन के प्रति मंगलमय दृष्टिकोण—को स्थूल अभिव्यंजना के क्षेत्र से निकालकर सूक्ष्म और सांकेतिक रूपरेखा प्रदान की। यह सांकेतिक व्यंजना छायावादी युग की विशेषता थी और 'प्रसाद' के नाटकों में इसके द्वारा परम्परागत भावनाएँ नई सुरभि, नये उन्माद के साथ उच्छ्वसित हुईं। किन्तु फिर भी यह मानना ही होगा कि शायद रंगमंच के उत्तरदायित्वपूर्ण बन्धनों से मुक्त होने के कारण 'प्रसाद' ने साहस और स्वच्छन्दता के साथ कतिपय बिलकुल नवीन प्रयोग किये। प्रथम तो उनकी भाषा का स्तर उनसे पूर्ववर्ती नाटककारों की भाषा से बिलकुल भिन्न है; उनकी आभिजात्य और गम्भीर भाषा के आगे हरिश्चन्द्री हिन्दी भी चलताऊ जान पड़ती है। दूसरे उनके पात्रो का अन्तर्द्वन्द्व हिन्दी-नाट्य-रचना में एक अभूतपूर्व प्रयोग था। तीसरे, उनके पात्र कथानक की तात्कालिक समस्याओं का विश्लेषण करते-करते मानव-जीवन की मौलिक समस्याओ का जो विवेचन करते हैं, गम्भीर चिन्तन मे जिस तरह उतराते-से जान पड़ते है वह भी हिन्दी-नाटक के लिए एक नूतन अनुभूति थी। इन तीन मौलिक प्रयोगों का परिणाम यह है कि 'प्रसाद' एक नये प्रकार की नाट्य-शैली के प्रतिपादक हो गए—वातावरण-प्रधान नाट्य-शैली, शायद सशक्त, सजीव और गतिशील वातावरण के द्वारा 'प्रसाद' अपने नाटकों की रंगमंच के लिए अनुपयुक्तता की कमी को पूरा कर लेते हैं; जहाँ वातावरण ही कल्पना को इतना उत्तेजित कर सके कि वह रंगमंच की सहायता के बिना ही अभीष्ट लोक का सृजन कर ले, वहाँ रगमंच के बिना भी काम चल सकता है।

१९२० और १९३३ के बीच 'प्रसाद' के लगभग सभी उच्च कोटि के नाटक लिखे गए।[1] क्या इन नाटकों ने हिन्दी-नाट्य-रचना के विकास पर कोई प्रभाव डाला? तुरन्त तो नहीं। किन्तु मैं श्री सोमनाथ गुप्त के इस कथन से सहमत नहीं हूँ कि "प्रसाद की रचनाओ का व्यापक प्रभाव किसी लेखक पर नहीं दिखाई देता।" मैं तो समझता हूँ कि वर्तमान पीढ़ी के

1. विशाख (१९२१) अजातशत्रु (१९२२), जन्मेजय का नागयज्ञ (१९२६), स्कन्दगुप्त (१९२८), चन्द्रगुप्त (१९३१), एक घूँट (१९२९-३०) ध्रुवस्वामिनी (१९३३)।

नाटककारो मे बहुत कम ऐसे हैं जो 'प्रसाद' के प्रभाव से अछूते रह पाए। सबसे अधिक आश्चर्य तो मुझे हुआ, हाल ही मे 'वत्सराज' नामक नाटक को देखकर, जो प्रसिद्ध बुद्धिवादी और यथा-तथ्यवादी लेखक श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की नई कृति है। मिश्रजी ने तो प्रसाद की वातावरण-प्रधान भावुक, आदर्शवादी शैली की प्रतिक्रिया स्वरूप १६३३ मे ही कुछ नवीन प्रयोग किये, लेकिन आज वे भी इसी ओर झुक रहे है। 'प्रसाद' के जीवन-काल मे ही हरिकृष्ण 'प्रेमी', जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', गोविन्दवल्लभ पन्त और उदयशकर भट्ट ने उसी शैली में कई रचनाएँ प्रस्तुत की। इनमे से किसी को भी निश्चयपूर्वक 'प्रसाद' का अविकल उत्तराधिकारी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि द्विजेन्द्रलाल राय का भी प्रभाव इन लेखकों की रचनाओ पर साफ लक्षित होता है। भट्टजी के 'विद्रोहिणी अम्बा', 'सगर विजय', 'मत्स्यगन्धा' और 'विश्वामित्र' नाटको मे पौराणिक युग का वातावरण सफलतापूर्वक उतारा गया है; 'आदिम युग' मे वे मानव-सभ्यता की कुछ मौलिक समस्याओ की ओर आकृष्ट हुए है। हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने 'स्वप्नभंग', 'रक्षा-बन्धन', 'शिवा-साधना' इत्यादि नाटको मे मध्य युग के भारतीय इतिहास की, विशाल हृदय होकर और मानवतावादी दृष्टिकोण से झाँकियाँ लीं हैं। गोविन्दवल्लभ पन्त ('वरमाला' और 'राजमुकुट') मे उतनी गह-राई तो नही है जितनी अन्य तीन नाटककारो मे, किन्तु रगमंच से पूर्णतया परिचित होने के कारण वे ही 'प्रसाद' से प्राप्त वायव्य प्रेरणा की, रंगमंच की धरती पर, सफलता पूर्वक अवतारणा कर सके। सन् १६४२-४३ के बाद से पुनः सहसा प्रसाद की आदर्श-सम्पृक्त, मानवतावादी और वातावरण-प्रधान शैली की लहर-सी आई है। रामकुमार वर्मा की 'चारुमित्रा' और 'ध्रुवतारिका' बेनीपुरी की 'अम्बपाली', 'संघमित्रा' और 'नेत्रदान', पृथ्वीनाथ शर्मा का 'उर्मिला', डॉ० कैलाशनाथ भटनागर की 'चाणक्य-प्रतिज्ञा' और 'श्रीवत्स', रानी शिवकुमारी देवी का 'चन्द्रगुप्त', और 'उमादे', कंचनलता सब्बरवाल की 'अमिया' और 'आदित्यसेन गुप्त', सीताराम चतुर्वेदी का 'सेनापति पुष्यमित्र' और सद्गुरुशरण अवस्थी के विविध ऐतिहासिक रूपक इसी विशाल तरग की ललित लहरियाँ हैं। प्रसाद के इस नूतन अभिवादन का विशेष कारण समझ मे नही आता; शायद कालेजों के अध्यापको और छात्रो का आज दिन हिन्दी-नाटक के नाम पर केवल प्रसाद के नाटको से सम्पर्क होता है, और वे ही उनके सृजनात्मक प्रयासो की मूल प्रेरणा हो पाते हैं।

किन्तु जैसा मैं ऊपर लिख चुका हूँ प्रसाद की परम्परा जमने भी न पाई थी कि उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई। यह प्रतिक्रिया युग और परिस्थितियो की माँग थी। प्रसाद ने कोई रगमंच तो बनाया नही था, पारसी-रगमंच की मलिन होती हुई आभा सन् '३० के आस-पास सिनेमा की चकाचौंध करने वाली रजत रश्मियो मे अपना अस्तित्व खो बैठी: हिन्दी का वह लड़खड़ाता हुआ व्यावसायिक रगमंच मानो आधुनिकता के स्पर्श-मात्र से ढह गया, लेकिन उसका कल्याणकर परिणाम यह हुआ कि प्रारम्भिक फिल्मो ने (न्यू थियेटर्स और बाम्बे टाकीज) सामाजिक जीवन के यथातथ्य (Realistic) प्रदर्शन को रगमंच के योग्य सामग्री साबित कर दिया। भारतेन्दु-परम्परा के अव्यावसायिक रगमंच पर इसका प्रभाव पड़े बिना न रह सका; कालिजों की नाट्य-मंडलियो ने समझा कि जीवन का यथातथ्य प्रदर्शन, स्वाभाविक ढंग का वार्ता-लाप, दैनिक अनुभव के क्रिया-कलाप—सभी रगमंच के दायरे मे आ सकते है। लेखकों को इस प्रवृत्ति की ओर एक और परिस्थिति ने प्रेरित किया। छायावाद के प्रथम उल्लास के बाद पाश्चात्य रोमाण्टिक साहित्य से उकताकर हिन्दी-लेखक इब्सन, शॉ, चेखव इत्यादि के सम्मोहन मे आये

और बाद मे समसामयिक नाट्य-साहित्य मे भी दिलचस्पी लेने लगे, तीसरा कारण था भारतीय राजनीति मे कोरी राष्ट्रीयता के स्थान पर सामाजिक और आर्थिक समस्याओ पर गम्भीर चिन्तन की प्रवृत्ति। यही प्रवृत्ति आगे चलकर साम्यवाद से अनुप्राणित होकर प्रगतिशीलता के चोले मे सामने आई। चौथा कारण था फ्रायड के मनोविश्लेषण-विज्ञान और यौन-विज्ञान मे पढ़े-लिखे नवयुवको की दिलचस्पी, जिसने युग-युगान्तर से नाट्य-साहित्य की धरोहर—प्रेम-कथानक—को बिलकुल नया रूप दे दिया। पाँचवाँ कारण था नाटक के क्षेत्र मे छोटी कहानी के समान छोटे नाटक—एकाकी की माँग। यद्यपि भारतीय साहित्य मे एकाकी पहले भी लिखे जा चुके थे, और हिन्दी मे तो भारतेन्दु को ही प्रथम एकाकीकार माना जा सकता है, तथापि, हमारे आधुनिक एकाकी की प्रेरणा हमे पाश्चात्य साहित्य से ही मिली है। एकाकी को अव्यावसायिक रगमच ने खुले हाथो अपनाया, क्योकि इनमे अभिनय के लिए कम-से-कम साधनो की आवश्यकता होती है।

इन परिस्थियों के फलस्वरूप १६३० के आस-पास एक नई शैली के नाटको की उद्भावना हुई। जीवन का यथातथ्य प्रदर्शन सामाजिक समस्याओ के मूल मे व्यक्ति की मानसिक गुत्थियो का विश्लेषण और उथले आदर्शवाद की उपेक्षा इन नाटको की विशेषताएँ मानी जा सकती है। शायद इस शैली का सर्वप्रथम नाटक कृपानाथ मिश्र का 'मणिगोस्वामी' (१६२६) था, जिसे अभी तक आधुनिक साहित्य मे समुचित स्थान नही मिला है, उसके बाद लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'सिन्दूर की होली', 'संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य' आदि नाटक परम्पराओ को चुनौती देते हुए आये, रूढ़ि-ग्रस्त विचारो को चुनौती देना तो कलाकार का 'मिशन' ही है, किन्तु रगमंच की आवश्यकताओ की अवहेलना मिश्रजी की रचना-शैली के लिए श्रेयस्कर नही हुई। रामकुमार वर्मा ने अपने एकाकियो मे और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने न सिर्फ एकाकियों मे बल्कि 'कैद और उड़ान', 'छठा बेटा', और 'आदिमार्ग'-जैसे बड़े नाटको मे भी यथातथ्यवादी विचार-प्रधान शैली का रगमंच की गतिशीलता और रस-पिपासा से समन्वय स्थापित किया। अश्क का शिल्प-विधान श्रम-साध्य और नपा-तुला होते हुए भी जीवन की खण्डित और प्रच्छन्न अनुभूतियों की भाँति ही साकेतिक होता है। व्यक्ति और समाज के आगे ऐसा विकारहीन किन्तु व्यंजनाशील दर्पण अन्य किसी यथातथ्यवादी हिन्दी-नाटककार ने नहीं रखा। सेठ गोविन्ददास जी के नाटक स्थूल रूप से समस्यामूलक है; कला पक्ष उनका क्षीण है, रगमंच के प्रति वे उदासीन हैं; और उनके पात्र क्रमशः "टाइप्स" होते चले जा रहे है, पहचाने जा सकने वाले व्यक्ति नही बल्कि विचार-धारा अथवा वर्ग के मूर्तमान स्वरूप! वृन्दावनलाल वर्मा के सद्यःप्रकाशित नाटकों मे भी अर्वाचीन समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है किन्तु जब तक वह प्रकाश नाटक के पात्रो मे से ही उद्भूत होता हुआ न मालूम दे तब तक इन रचनाओ को नाटक की संज्ञा देते हुए सकोच होता है। हाल ही मे बीकानेर के शम्भूदयाल सक्सेना की 'सगाई' पढ़कर आभास हुआ मानो हिन्दी-नाट्य-माला मे एक नया मोती गुँथा हो, इस नाटिका मे समस्या का उद्घाटन होता है, वक्तृताओ के द्वारा नही बल्कि पात्रों के आचरण के द्वारा। सन् १६३४ मे जब विचारमूलक नाटकों का हिन्दी मे श्रीगणेश हो ही रहा था, तब श्री सुमित्रानन्दन पन्त का गीति-नाट्य 'ज्योत्स्ना' प्रकाशित हुआ, 'ज्योत्स्ना'-जैसे अभूतपूर्व साहित्यिक प्रयोग को किसी वर्ग अथवा प्रवृत्ति के अन्तर्गत मानना कवि की प्रतिभा के प्रति अन्याय करना होगा, किन्तु नाट्य-रचना के इतिहास मे 'ज्योत्स्ना' की महत्ता इसलिए है कि

उसमें हम गीति-प्रधान रसानुवर्तिनी, काव्यात्मक नाट्य-शैली, (जिसकी जड़ भारतेन्दु और उनसे भी पहले वैष्णव नाटकों तक फैली हुई है) प्रतीकात्मक रूपक-विधान, (जिसका सर्वप्रथम उदाहरण संस्कृत मे 'प्रवोध-चन्द्रोदय' नाटक है) और विचारशीलता एवं सभ्यता और संस्कृति के मूल तत्त्वों की खोज से अनुप्राणित आधुनिक नाट्य-शैली का मनोरम और साहसपूर्ण समन्वय पाते हैं।

× × ×

सन् '३५ के बाद हिन्दी-रंगमंच के इतिहास में दो महत्त्वपूर्ण दिशाओं में विकास हुआ है। एक तो भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित अव्यावसायिक रगमंच का एकांकियों के माध्यम से 'साहित्यिक' नाटक से पुनः सम्बन्ध स्थापित होना और दूसरे पृथ्वीराज कपूर द्वारा बम्बई मे आर्थिक घाटा सहते हुए भी एक सुरुचिपूर्ण और नवरसदेशवाहक व्यावसायिक रंगमंच की स्थापना। हिन्दी मे आधुनिक एकांकी की महत्ता इसीलिए मानी जायगी कि वह एक परिवर्तनशील रगमंच की मॉग को पूरा करने के लिए रचा गया और उस रगमंच को पुनर्जीवित करने मे उसका बहुत बडा हाथ रहा है। पृथ्वीराज कपूर ने जो बीड़ा उठाया है उसे यदि हिन्दी-लेखक आह्वान के रूप मे समझें तो उनका आयोजन युगान्तरकारी आन्दोलन बन सकता है। एक प्रतिभाशाली अभिनेता होने के कारण पृथ्वीराज अपने नाटको ('पठान' और 'आहुति' इत्यादि) के कुछ दोषो (यथा 'कलाकार' के अन्तिम अंक की सस्ती भावुकता) की छान-बीन करने में असमर्थ जान पड़ते है, साथ ही हिन्दी साहित्य और प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी उदासीनता (और अज्ञान !) उनमे नाट्य-चयन को अत्यन्त सीमित कर देती है। फिर भी अगला कदम तो हिन्दी के साहित्यकारों को ही उठाना है।

रेडियो-नाटक की ब्यौरेवार चर्चा यहाँ अप्रासंगिक होगी, क्योंकि उसके वायव्य 'मच' का अभी तो हमारे रंगमंच से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। लेकिन यह तो स्पष्ट है कि हिन्दी नाट्य-रचना पर रेडियो का अत्यन्त व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ रहा है। अनेक नये लेखक रेडियो ही के कारण नाट्य-रचना की ओर प्रेरित हुए। प्राचीन नाटको के सूत्रधार की पुनः अवतारणा वाचक और वाचिका के रूप में हो रही है। वैष्णव-रंगमंच की भाँति रेडियो-नाटक मे भी सांगीतिकता का प्रचुर समावेश हुआ है। जान पड़ता है रेडियो के प्रभाव से हिन्दी मे पुनः गीति-नाट्य की प्रतिष्ठा हो रही है।

इसी मे हमें भविष्य के संकेत मिलते हैं, इतिहास और परम्परा की उपेक्षा करके भविष्य का निर्माण नहीं हो सकता। मैंने अन्य निबन्धो मे भावी हिन्दी-रंगमंच और नाटक की रूपरेखा पर अपने कुछ सुझाव दिये हैं। यहाँ उनका पुनः उल्लेख आवश्यक होगा, किन्तु मननशील पाठक समकालीन प्रवृत्तियों और परिस्थितियो मे एक काव्यात्मक और लोक-संग्रही रंगमच के बीज देखेंगे ऐसी मेरी धारणा है। फिर भी एक ही प्रकार के रंगमंच का भारतवर्ष मे सर्वमान्य होना असम्भव है और अनुचित भी। एलडॉइस निकल के शब्दों मे सजीव रंगमच के लिए एक भौगोलिक केन्द्र, यथोचित स्वच्छन्दता, जन-साधारण और बुद्धिजीवियो दोनो ही से समर्थन, व्यावसायिक नाटककार के लिए सहारे का प्रबन्ध, और युग-परिस्थितियों के अनुकूल रंगमंच-विधान—इन अवयवों की आवश्यकता होती है। स्पष्ट है कि भारतवर्ष-जैसे विशाल देश मे इन अवयवों के रूप भी अनेक होंगे और इसलिए रंगमंच और नाट्य-रचना-शैली के विधान भी बहुमुखी !

डॉक्टर रामरतन भटनागर

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का विकास

भारतवर्ष मे आधुनिक ढंग की पत्रकारिता का जन्म अठारवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश मे कलकत्ता, बम्बई और मद्रास मे हुआ। ये तीनो नगर नवस्थापित अंग्रेजी शासन के केन्द्र थे और इनमे धीरे-धीरे छोटे-छोटे अंग्रेजी उपनिवेश विकसित हो गए थे। १७८० ई० मे प्रकाशित हिके (Hickey) का 'कलकत्ता गजेट' कदाचित् इस ओर पहला प्रयत्न था। हिन्दी के पहले पत्र 'उदंत मार्तण्ड' (१८२६) के प्रकाशित होने तक इन नगरों की एंग्लो-इंडियन अंग्रेजी पत्रकारिता काफी विकसित हो गई थी।

इन अन्तिम वर्षों में फारसी भाषा मे भी पत्रकारिता का जन्म हो चुका था। १८वीं शताब्दी के फ़ारसी पत्र कदाचित् हस्तलिखित पत्र थे। १८०१ मे 'Hindusthan Intelligence Oriental anthology' नाम का जो संकलन प्रकाशित हुआ उसमे उत्तर भारत के कितने ही 'अखबारो' के उद्धरण थे। १८१० में मौलवी इकराम अली ने कलकत्ता से लिथो-पत्र 'हिन्दोस्तानी' प्रकाशित करना आरम्भ किया। १८१६ मे गंगाकिशोर भट्टाचार्य ने 'बंगाल गजेट' का प्रवर्तन किया। यह पहला बंगला-पत्र था। बाद मे श्रीरामपुर के पादरियो ने प्रसिद्ध प्रचार-पत्र 'समाचार-दर्पण' (२७ मई १८१८) को जन्म दिया। इन प्रारम्भिक पत्रो के बाद हमें बंगला भाषा के 'समाचार चन्द्रिका' (१८२३) और 'सम्वाद-कौमुदी' (१८२३), फ़ारसी उर्दू के 'जामे जहाँनुमा' (१८२३) और 'शम्सुल अखबार' (१८२३) और गुजराती के मुम्बई समाचार' (१८२३) के दर्शन होते हैं।

यह स्पष्ट है कि हिन्दी-पत्रकारिता बहुत बाद की चीज नहीं है। दिल्ली का 'उर्दू अखबार' (१८३३) और मराठी का 'दिग्दर्शन' (१८३७) हिन्दी के पहले पत्र 'उदंत मार्तण्ड' (१८२६) के बाद ही आए हैं। 'उदंत मार्तण्ड' के सम्पादक पंडित जुगलकिशोर थे। यह साप्ताहिक पत्र था। पत्र की भाषा पछाँही हिन्दी रहती थी, जिसे पत्र के सम्पादक ने 'मध्यदेशीय-भाषा' कहा है। प्रारम्भिक विज्ञप्ति इस प्रकार थी—"यह उदंत मार्तण्ड अब पहले-पहल हिन्दुस्तानियो के हित के हेत जो आज तक किसी ने नहीं चलाया पर अंग्रेजी औ पारसी ओ बंगले मे जो समाचार का कागज छपता है उसका सुख उन बोलियों के जानने ओ पढ़ने वालों को ही होता है। इससे सत्य समाचार हिन्दुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ ओ समझ लेय ओ पराई अपेक्षा न करें ओ अपने भाषा की उपज न छोड़े, इसलिए बड़े दयावान करुणा और गुणीन के निधान सब के कल्यान के विषय गवरनर जेनेरेल बहादुर की आयस से ऐसे साहस मे चित लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाट ठाटा···।" यह पत्र १८२७ मे बन्द हो गया। उन दिनो सरकारी सहायता के बिना किसी भी पत्र का चलना असम्भव था। कम्पनी-सरकार ने मिशनरियों के पत्र को डाक आदि की सुविधा दे रखी थी, परन्तु चेष्टा करने पर भी 'उदंत मार्तण्ड' को यह सुविधा

प्राप्त नहीं हो सकी। अन्तिम विज्ञप्ति से इस विषय में काफी प्रकाश पडता है—"इस उदंत-मार्तण्ड के नाव पड़ने के पहिले पछाँहियो के चित्त का इस कागज न होने से हमारे मनोर्थ सफल होने का बड़ा उतसा था इसलिए लोग हमारे बिन कहे भी इस कागज की सही की वही पर सही करते गये, पै हमे पूछिये तो इनकी मायावी दया से सरकार अँगरेज कम्पनी महा प्रतापी की कृपा कटाक्ष जैसे औरो पर पडी वैसे पड जाने की वडी आशा थी और मैने इस विषय में उपाय यथोच्चित किया पै करम की रेख कौन मैटे तिस पर भी सही की वही देख जी सुखी होता रहा अन्त मे नटों कैसे आम दिखाई दिए इत हेत स्वारथ अकारथ जान निरे परमारथ को मान कहाँ तक बनजिए अब अपने व्यवसाई भाइयो से मन की बात बताय बिदा होते है। हमारे कहे सुने का कुछ मन मे न लाइयौ जो दैव और भूपर मेरी अन्तरव्यथा और इस पत्र के गुण को बिचार सुध करैगे तौ मेरे ही है। शुभमिति ॥"

१८२६ ई० से १८७३ ई० तक को हम हिन्दी-पत्रकारिता का पहला चरण कह सकते है। १८७३ ई० मे भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द मैगजीन' की स्थापना की। एक वर्ष बाद मे यह पत्र 'हरिश्चन्द-चन्द्रिका' नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैसे भारतेन्दु का 'कवि-वचन-सुधा' पत्र १८६७ मे ही सामने आ गया था और उसने पत्रकारिता के विकास मे महत्त्वपूर्ण भाग लिया था, परन्तु नई भाषा-शैली का प्रवर्तन १८७३ मे 'हरिश्चन्द मैगजीन' से ही हुआ। इस बीच के अधिकाश पत्र प्रयोग-मात्र कहे जा सकते है और उनके पीछे पत्र-कला का ज्ञान अथवा नये विचारों के प्रचार की भावना नहीं है। *'उदंत मार्तण्ड' (१८२६) के बाद प्रमुख पत्र है : बंगदूत (१८२९)*, प्रजामित्र (१८३४), बनारसअख बार (१८४५), मार्तण्ड (पच भाषीय, १८४६), 'ज्ञानदीप' (१८४६), मालवा अखबार (१८४९), जगद्दीपक भास्कर (१८४९), सुधाकर (१८५०), साम्यदड मार्तण्ड (१८५०), मजहरुलसरूर (१८५०), बुद्धिप्रकाश (१८५२), ग्वालियर गजेट (१८५३), समाचार सुधावर्षण (१८५४, दैनिक, कलकत्ता), प्रजाहितैषी (१८५५), सर्वहितकारक (१८५५), सूरजप्रकाश (१८६१), जगलाभ चिंतक (१८६१) सर्वोपकारक (१८६१), प्रजाहित (१८६१), लोकमित्र (१८६५), भारतखंडामृत (१८६४), तत्त्वबोधिनी पत्रिका (१८६५), ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका (१८६६), सोमप्रकाश (१८६६), सत्यदीपक (१८६६) वृतात विलास (१८६७), ज्ञानदीपक (१८६७), कविवचनसुधा (१८६७), धर्मप्रकाश (१८६७), विद्याविलास (१८६७), वृतांतदर्पण (१८६७), विद्यादर्श (१८६९), ब्रह्मज्ञान प्रकाश (१८६९), पापमोचन (१८६९), जगदानन्द (१८६९), जगतप्रकाश (१८६९), अलमोड़ा अखबार (१८७०), आगरा अखबार (१८७०), बुद्धिविलास (१८७०), हिन्दू प्रकाश (१८७१), प्रयागदूत (१८७१), बुन्देलखंड अखबार (१८७१), प्रेमपत्र (१८७२) और बोधा समाचार (१८७२)। इन पत्रों मे से अधिकांश मासिक थे, कुछ साप्ताहिक। दैनिक पत्र केवल एक था 'समाचार सुधावर्षण', जो द्विभाषीय (बँगला-हिन्दी) था, और कलकत्ते से प्रकाशित होता था। यह दैनिक पत्र १८७१ ई० तक चलता रहा। अधिकाश पत्र आगरे से प्रकाशित होते थे, जो उन दिनों एक बड़ा शिक्षा-केन्द्र था और विद्यार्थी-समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति करते थे। शेष ब्रह्म-समाज, सनातन धर्म और मिशनरियों के प्रचार-कार्य से सम्बन्धित थे। बहुत से पत्र द्विभाषीय (हिन्दी-उर्दू) थे और कुछ तो पंचभाषीय तक थे। इससे भी पत्रकारिता की अपरिपक्व दशा ही सूचित होती है। हिन्दी-प्रदेश के प्रारम्भिक पत्रों मे 'बनारस अखबार' (१८४५) काफी प्रभावशाली था और उसी की

भाषा-नीति के विरोध मे १८५० मे तारामोहन मैत्र ने काशी से साप्ताहिक 'सुधाकर' और १८५५ मे राजा लक्ष्मणसिंह ने आगरा से 'प्रजाहितैषी' का प्रकाशन आरम्भ किया। राजा शिवप्रसाद का 'बनारस अखबार' उर्दू-भाषा-शैली को अपनाता तो ये दोनो पत्र पंडिताऊ तत्सम-प्रधान शैली की ओर झुकते थे। इस प्रकार हम देखते है कि १८६७ से पहले भाषा-शैली के सम्बन्ध मे हिन्दी पत्रकार किसी निश्चित नीति का अनुसरण नही कर सके थे। इस वर्ष 'कवि-वचन-सुधा' प्रकाशित हुआ और एक तरह से उसे हम पहला महत्त्वपूर्ण पत्र कह सकते है। पहले यह मासिक था, फिर पाक्षिक हुआ और अन्त मे साप्ताहिक। भारतेन्दु के बहुविध व्यक्तित्व का प्रकाशन इस पत्र के माध्यम से हुआ, परन्तु सच तो यह है कि 'हरिश्चन्द मैगज़ीन' के प्रकाशन (१८७३) तक वे भी भाषा-शैली और विचारो के क्षेत्र मे मार्ग ही खोजते दिखलाई देते हैं।

हिन्दी-पत्रकारिता का दूसरा युग १८७३ से १६०० तक चलता है। इस युग के एक छोर पर भारतेन्दु का 'हरिश्चन्द मैगजीन' है और दूसरी ओर नागरी प्रचारिणी द्वारा अनुमोदन प्राप्त 'सरस्वती'। इन २७ वर्षों मे प्रकाशित पत्रो की संख्या ३००—३५० से ऊपर है और ये नागपुर तक फैले हुए है। अधिकाश पत्र मासिक या साप्ताहिक है। मासिक पत्रो मे निबंध, नवल कथा (उपन्यास), वार्ता इत्यादि के रूप मे कुछ अधिक स्थायी सम्पत्ति रहती थी, परन्तु अधिकाश पत्र १०-१५ पृष्ठो से अधिक नहीं जाते और उन्हे हम आज के शब्दो मे 'विचार-पत्र' ही कह सकते हैं। साप्ताहिक पत्रो मे समाचारो और उन पर टिप्पणियो का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। वास्तव मे दैनिक समाचार के प्रति उस समय विशेष आग्रह नही था और कदाचित् इसीलिए उन दिनो साप्ताहिक और मासिक पत्र कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थे। उन्होने जन-जागरण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग लिया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के इन २५ वर्षों का आदर्श भारतेन्दु की पत्रकारिता थी। 'कवि-वचन-सुधा' (१८६७), 'हरिश्चन्द मैगजीन' (१८७४), 'श्री हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' (१८७४), 'बाला-बोधिनी', 'स्त्रीजन की प्यारी' (१८७४) के रूप में भारतेन्दु ने इस दिशा मे पथ-प्रदर्शन किया था। उनकी टीका-टिप्पणियो से अधिकारी तक घबराते थे और 'कवि-वचन-सुधा' के 'पंच' पर रुष्ट होकर काशी के मैजिस्ट्रेट ने भारतेन्दु के पत्रों को शिक्षा-विभाग के लिए लेना भी बन्द करा दिया था। इसमें सन्देह नहीं कि पत्रकारिता के क्षेत्र मे भी भारतेन्दु पूर्णतया निर्भीक थे और उन्होने नये-नये पत्रो के लिए प्रोत्साहन दिया। 'हिन्दी-प्रदीप', 'भारत जीवन' आदि अनेक पत्रो का नामकरण भी उन्होने ही किया था। उनके युग के सभी पत्रकार उन्हे अग्रणी मानते थे।

भारतेन्दु के बाद इस क्षेत्र मे जो पत्रकार आये उनमे प्रमुख हैं पण्डित रुद्रदत्त शर्मा (भारत-मित्र, १८७७), बालकृष्ण भट्ट (हिन्दी-प्रदीप, १८७७), दुर्गाप्रसाद मिश्र (उचित वक्ता, १८७८), पं० सदानन्द मिश्र (सार-सुधानिधि, १८७८), पण्डित वंशीधर (सज्जन कीर्ति सुधाकर, १८७८), बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (आनन्द-कादम्बिनी, १८८१), देवकीनन्दन त्रिपाठी (प्रयाग-समाचार, १८८२), राधाचरण गोस्वामी (भारतेन्दु, १८८२), पण्डित गौरीदत्त (देवनागरी-प्रचारक, १८८२), राजा रामपालसिंह (हिन्दुस्तान, १८८३), प्रतापनारायण मिश्र (ब्राह्मण १८८३), अम्बिकादत्त व्यास (पीयूष-प्रवाह, १८८४), बाबू रामकृष्ण वर्मा (भारत-जीवन, १८८४), प०रामगुलाम अवस्थी (शुभचिंतक, १८८८), योगेशचन्द्र वसु (हिन्दी वंगवासी, १८६०), पं० कुन्दनलाल (कवि व चित्रकार, १८६१), और बाबू देवकीनन्दन खत्री एवं बाबू

जगन्नाथदास (साहित्य-सुधानिधि, १८९४)। १८९५ ई० में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का प्रकाशन आरम्भ होता है। इस पत्रिका से गम्भीर साहित्य-समीक्षा का आरम्भ होता है और इसलिए हम इसे एक निश्चित प्रकाश-स्तम्भ मान सकते हैं। अगले ४-५ वर्षों में कोई महत्त्वपूर्ण पत्र हमें नहीं मिलता, परन्तु पिछले अनेक पत्र-पत्रकारिता को बराबर आगे बढाते हैं। १९०० ई० में 'सरस्वती' और 'सुदर्शन' के अवतरण के साथ हिन्दी-पत्रकारिता के इस दूसरे युग पर पटाक्षेप हो जाता है।

इन २५ वर्षों में हमारी पत्रकारिता अनेक दिशाओं में विकसित हुई। प्रारम्भिक पत्र शिक्षा-प्रसार और धर्म-प्रचार तक सीमित थे। भारतेन्दु ने सामाजिक राजनैतिक, और साहित्यिक दिशाएँ भी विकसित कीं। उन्होंने ही 'बाला-बोधिनी' (१८७४) नाम से पहला स्त्री-मासिक-पत्र चलाया। कुछ वर्ष बाद हम महिलाओं को स्वयं इस क्षेत्र में उतरते देखते हैं: 'भारत-भगिनी' (हरदेवी, १८८८), 'सुगृहणी' (हेमन्तकुमारी, १८८९)। इन वर्षों में धर्म के क्षेत्र में आर्यसमाज और सनातनधर्म के प्रचारक विशेष क्रियाशील थे। ब्रह्मसमाज और राधास्वामी मत से सम्बन्धित कुछ पत्र और मिर्जापुर-जैसे ईसाई-केन्द्रों से कुछ ईसाई-धर्म-सम्बन्धी पत्र भी सामने आते हैं, परन्तु युग की धार्मिक प्रतिक्रियाओं को हम आर्य समाजी और सनातनी पत्रों में ही पाते हैं। आज ये पत्र कदाचित् उतने महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ते, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने हमारी गद्य-शैली को पुष्ट किया और जनता में नये विचारों की ज्योति भरी। इन धार्मिक वाद-विवादों के फलस्वरूप समाज के विभिन्न वर्ग और सम्प्रदाय सुधार की ओर अग्रसर हुए और बहुत शीघ्र ही साम्प्रदायिक पत्रों की बाढ़ आ गई। सैकड़ों की संख्या में विभिन्न जातीय और वर्गीय पत्र प्रकाशित हुए और उन्होंने असंख्य जनों को वाणी दी।

आज वही पत्र हमारी इतिहास-चेतना में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं जिन्होंने भाषा-शैली, साहित्य अथवा राजनीति के क्षेत्र में कोई अप्रतिम कार्य किया हो। साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी-प्रदीप (१८७७), ब्राह्मण (१८८३), क्षत्रिय-पत्रिका (१८८०), आनन्द-कादम्बिनी (१८८१), भारतेन्दु (१८८२), देवनागरी प्रचारक (१८८२), वैष्णव पत्रिका (पश्चात् पीयूष प्रवाह, १८८३), कवि व चित्रकार (१८९१), नागरी नीरद (१८८३), साहित्य-सुधानिधि (१८९४) और राजनैतिक दृष्टि से भारत-मित्र (१८७७), उचित वक्ता (१८७८), सार-सुधानिधि (१८७८), हिन्दुस्तान (दैनिक, १८८३), भारत जीवन (१८८४), भारतोदय (दैनिक, १८८५), शुभचिंतक (१८८७) और हिन्दी बंगवासी (१८९०) विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन पत्रों में हमारे १९वीं शताब्दी के साहित्य-रसिकों, हिन्दी के कर्मठ उपासकों, शैलीकारों और चिन्तकों की सर्वश्रेष्ठ निधि सुरक्षित है। यह क्षोभ का विषय है कि हम इस महत्त्वपूर्ण सामग्री का पत्रों की फाइलों से उद्धार नहीं कर सके हैं। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, सदानन्द मिश्र, रुद्रदत्त शर्मा, अम्बिकादत्त व्यास और बालमुकुन्द गुप्त-जैसे सजीव लेखकों की कलम से निकले हुए न जाने कितने निबन्ध, टिप्पणी, लेख, पंच, हास-परिहास और स्केच आज हमें अलभ्य हो रहे हैं। इतने जीवट के पत्रकार हमें बीसवीं शताब्दी में भी दिखाई नहीं देते। आज भी हमारे पत्रकार उनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं। अपने समय में तो वे अग्रणी थे ही।

बीसवीं शताब्दी की पत्रकारिता हमारे लिए अपेक्षाकृत निकट है और उसमें बहुत कुछ पिछले युग की पत्रकारिता की ही विविधता और बहुरूपता मिलती है। वास्तव में विकास-

शृङ्खला कुछ आगे बढी है और पत्रकारिता की अनेक दिशाएँ अधिक स्पष्ट हो गई हैं। १९वीं शती के पत्रकारो को भाषा-शैली के क्षेत्र में अव्यवस्था का सामना करना पडा था। उन्हे एक ओर अँग्रेजी, दूसरी ओर उर्दू के पत्रो के सामने अपनी वस्तु रखनी थी। अभी हिन्दी मे रुचि रखने वाली जनता बहुत छोटी थी। धीरे-धीरे परिस्थिति बदली और हम हिन्दी-पत्रों को साहित्य और राजनीति के क्षेत्र मे नेतृत्व करते पाते है। इस शताब्दी में धर्म और समाज-सुधार के आन्दोलन कुछ पीछे पड गए और जातीय चेतना ने धीरे-धीरे राष्ट्रीय चेतना का रूप ग्रहण कर लिया। फलतः अधिकाश पत्र साहित्य और राजनीति को ही लेकर चले। साहित्यिक पत्रो के क्षेत्र में पहले दो दशको मे आचार्य द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' (१९०३-१९१८) का नेतृत्व रहा। वस्तुतः इन बीस वर्षों मे हिन्दी के मासिक पत्र एक महान् साहित्यिक शक्ति के रूप में सामने आये। शृङ्खलित उपन्यास-कहानी के रूप मे कई पत्र प्रकाशित हुए जैसे 'उपन्यास'(१९०१), हिन्दी नाविल (१९०१), उपन्यास लहरी (१९०२), उपन्यास सागर(१९०३), उपन्यास-कुसुमाजलि (१९०४), उपन्यास बहार (१९०७), उपन्यास प्रचार (१९१२)। केवल कविता अथवा समस्या-पूर्ति लेकर अनेक पत्र उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम वर्षों में निकलने लगे थे। वे चलते रहे। समालोचना के क्षेत्र मे 'समालोचक' (१९०२) और ऐतिहासिक शोध से सम्बन्धित 'इतिहास' (१९०५) का प्रकाशन भी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं। परन्तु 'सरस्वती' ने Miscellany के रूप मे जो आदर्श रखा था, वह अधिक लोकप्रिय रहा और इस श्रेणी के पत्रो मे उसके साथ कुछ थोड़े ही पत्रो का नाम लिया जा सकता है जैसे भारतेन्दु (१९०५), नागरी हितैषिणी पत्रिका बॉकीपुर (१९०५), नागरी प्रचारक (१९०६), मिथिला मिहिर (१९१०) और इन्दु (१९०९)। 'सरस्वती' और 'इन्दु' दोनो हमारी साहित्य-चेतना के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण है और एक तरह से हम इन्हे उस युग की साहित्यिक पत्रकारिता का शीर्षमणि कह सकते है। 'सरस्वती' के माध्यम से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और 'इन्दु' के माध्यम से पडित रूपनारायण पाण्डेय ने जिस सम्पादकीय सतर्कता, अध्यवसाय और ईमानदारी का आदर्श हमारे सामने रखा वह हमारी पत्रकारिता को एक नई दिशा देने में समर्थ हुआ।

परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में हमारी पत्रकारिता को नेतृत्व नहीं प्राप्त हो सका। पिछले युग की राजनैतिक पत्रकारिता का केन्द्र कलकत्ता था। परन्तु कलकत्ता हिन्दी प्रदेश से दूर पड़ता था और स्वय हिन्दी-प्रदेश को राजनैतिक दिशा में जागरूक नेतृत्व कुछ देर में मिला। हिन्दी प्रदेश का पहला हिन्दी दैनिक राजा रामपालसिंह का द्विभाषीय 'हिन्दुस्तान' (१८८३) है जो अँग्रेजी-हिन्दी मे कालाकॉकर से प्रकाशित होता था। दो वर्ष बाद (१८८५), बाबू सीताराम ने 'भारतोदय' नाम से एक दैनिक पत्र कानपुर से निकालना शुरू किया। परन्तु ये दोनो पत्र दीर्घजीवी नहीं हो सके और साप्ताहिक पत्रो को ही राजनीतिक विचार-धारा का वाहन बनना पड़ा। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी मे कलकत्ता के भारतमित्र, बंगवासी, सारसुधानिधि और उचितवक्ता ही हिन्दी-प्रदेश की राजनीतिक भावना का प्रतिनिधित्व करते थे। इनमें कदाचित् 'भारतमित्र' ही सबसे स्थायी और शक्तिशाली था। उन्नीसवीं शताब्दी मे बंगाल और महाराष्ट्र लोक-जागृति के केन्द्र थे और उग्र राष्ट्रीय पत्रकारिता में भी ये ही प्रान्त अग्रणी थे। हिन्दी-प्रदेश के पत्रकारों ने इन प्रान्तों के नेतृत्व को स्वीकार कर लिया और बहुत दिनों तक उनका स्वतन्त्र राजनीतिक व्यक्तित्व विकसित नहीं हो सका। फिर भी हम अभ्युदय (१९०५), प्रताप (१९१३) कर्मयोगी (१९१४),

हिन्दी केसरी (१६०४-०८) आदि के रूप मे हिन्दी राजनैतिक पत्रकारिता को कई डग आगे बढते देखते हैं। प्रथम महायुद्ध की उत्तेजना ने एक बार फिर कई दैनिकों को जन्म दिया। कलकत्ता से 'कलकत्ता समाचार', 'स्वतन्त्र' और 'विश्वमित्र' प्रकाशित हुए, बम्बई से 'वैंकटेश्वर समाचार' ने अपना दैनिक संस्करण प्रकाशित करना आरम्भ किया और दिल्ली से 'विजय' निकला। १६२१ मे काशी से 'आज' और कानपुर से 'वर्तमान' प्रकाशित हुए। इस प्रकार हम देखते है कि १६२१ मे हिन्दी-पत्रकारिता फिर एक बार करवट लेती है और राजनीतिक क्षेत्र मे अपना नया जीवन आरम्भ करती है। हमारे साहित्य-पत्रो के क्षेत्र मे भी कुछ नई प्रवृत्तियो का आरम्भ इसी समय से होता है फलतः बीसवी शती के पहले बीस वर्षों को हम हिन्दी-पत्रकारिता का तीसरा चरण कह सकते हैं।

१६२१ के बाद हिन्दी-पत्रकारिता का समसामयिक युग आरम्भ होता है। इस युग मे हम राष्ट्रीय (राजनैतिक) और साहित्यिक चेतना को साथ-साथ पल्लवित पाते हैं। इसी समय के लगभग हिन्दी का प्रवेश विश्वविद्यालयो मे हुआ और कुछ ऐसे कृती सम्पादक सामने आये जो अँग्रेजी की पत्रकारिता से पूर्णतया परिचित थे और जो हिन्दी-पत्रो को अँग्रेजी, मराठी और बँगला के पत्रो के समकक्ष लाना चाहते थे। फलतः साहित्यिक पत्रकारिता मे एक नए युग का आरम्भ हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलनो ने हिन्दी की राष्ट्रभाषा के लिए योग्यता पहली बार घोषित हुई और जैसे-जैसे राष्ट्रीय आन्दोलनो का बल बढ़ने लगा, हिन्दी के पत्रकार और उनके पत्र अधिक महत्त्व पाने लगे। १६२१ के बाद गांधीजी के नेतृत्व मे राष्ट्रीय आन्दोलन मध्यवर्ग तक सीमित न रहकर ग्रामीणो और श्रमकरो तक पहुँच गया और उसके इस प्रसार में हिन्दी-पत्रकारिता ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। सच तो यह है कि हिन्दी-पत्रकार राष्ट्रीय आन्दोलनो में अग्रपंक्ति मे थे और उन्होने विदेशी सत्ता से डटकर मोर्चा लिया। विदेशी सरकार ने अनेक बार नये-नये कानून बनाकर समाचार-पत्रो की स्वतन्त्रता पर कुठाराघात किया। परन्तु जेल, जुर्माना और अनेकानेक मानसिक और आर्थिक कठिनाइयाँ झेलते हुए भी हमारे पत्रकारो ने स्वतन्त्र विचार की दीप-शिखा जलाए रखी।

१६२१ के बाद साहित्य-क्षेत्र मे जो पत्र आये उनमे प्रमुख हैं माधुरी (१६२३), चाँद (१६२३), मनोरमा (१६२४), समालोचक (१६२४), चित्रपट (१६२५) कल्याण (१६२६), सुधा (१६२७), विशाल भारत (१६२५), त्याग-भूमि (१६२८), हंस (१६३०), गंगा (१६३०), विश्वमित्र (१६३३), रूपाभ (१६३८) साहित्य सन्देश (१६३८), कमला (१६३६), मधुकर (१६४०), जीवन-साहित्य (१६४०), विश्व-भारती (१६४२), संगम (१६४२), कुमार (१६४४), नया साहित्य (१६४५), पारिजात (१६४५), हिमालय (१६४६) आदि। वास्तव मे आज हमारे मासिक साहित्य की प्रौढता और विविधता मे किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। हिन्दी की अनेकानेक प्रथम श्रेणी की रचनाएँ मासिकों के द्वारा ही पहले प्रकाश मे आई हैं। आज हमारे मासिक जीवन और साहित्य के सभी अंगो की पूर्ति करते है और अब विशेषज्ञता की ओर भी ध्यान जाने लगा है। सच तो यह है कि सरस्वती (१६००—), इन्दु (१६०६—१६), माधुरी (१६२३), त्याग-भूमि (१६२८), विशाल भारत (१६२८), हस (१६३०) और रूपाभ (१६३८)-जैसे पत्रो को छोड़कर आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखना ही असम्भव बात है। साहित्य की प्रवृत्तियो की जैसी विकासमान झलक पत्रो में मिलती है, वैसी

पुस्तकों में नहीं मिलती। वहाँ हमें साहित्य का सक्रिय, सप्राण, गतिशील रूप प्राप्त होता है।

राजनीतिक क्षेत्र में इस युग में जिन पत्र पत्रिकाओं की धूम रही वे हैं कर्मवीर (१९२४), सैनिक (१९२४), सूर्य (१९१९), स्वदेश (१९२१), श्रीकृष्ण-सन्देश (१९२५), हिन्दू-पंच (१९२६), स्वतन्त्र भारत (१९२८), जागरण (१९२९), हिन्दी मिलाप (१९२९), सचित्र दरबार (१९३०), स्वराज्य (१९३१), नवयुग (१९३२), हरिजन सेवक (१९३२) विश्वबन्धु (१९३३), नवशक्ति (१९३४), योगी (१९३४), हिन्दू (१९३६), देशदूत (१९३८), राष्ट्रीयता (१९३८), संघर्ष (१९३८), चिनगारी (१९३८), नव ज्योति (१९३८), सगम (१९४०), जनयुग (१९४२), रामराज्य (१९४२), लोकवाणी (१९४२), सावधान (१९४२), हुकार (१९४२), ससार (१९४३) और सन्मार्ग (१९४३)। इनमें से अधिकाश साप्ताहिक हैं, परन्तु जन-मन के निर्माण में उनका योग-दान महत्त्वपूर्ण रहा है। जहाँ तक पत्र-कला का सम्बन्ध है वहाँ तक हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि तीसरे और चौथे युग के पत्रो में धरती-आकाश का अन्तर है। 'हिन्दी केसरी' (१९०७–०९) और 'लोक युद्ध' (१९४२) को साथ-साथ रखकर देखें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि इन तीस-पैंतीस वर्षों में पत्र-सम्पादन का धरातल ही बदल गया है और आज पत्र-सम्पादन वास्तव में उच्चकोटि की कला है। राजनीतिक पत्रकारिता के क्षेत्र में 'आज' (१९२१) और उसके सम्पादक श्री बाबूराव विष्णुराव पराडकर का लगभग वही स्थान है जो साहित्यिक पत्र-कारिता के क्षेत्र मे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को प्राप्त है। सच तो यह है कि 'आज' ने पत्र-कला के क्षेत्र में एक महान् संस्था का काम किया है और उसने हिन्दी को बीसियो पत्र-सम्पादक और पत्रकार दिये हैं। 'आज' के पथ-प्रदर्शन पर चलने वाले दैनिको में से प्रमुख हैं सैनिक (१९२८), शक्ति (१९३०), प्रताप (१९३१), नवयुग (१९३२), नवराष्ट्र (१९३३), भारत (१९३३), लोकमत (१९३१), लोकमान्य (१९३०), विश्वमित्र (कलकत्ता १९१७), बम्बई (१९४१), नई दिल्ली (१९४२), नवभारत (१९३४), अधिकार (१९३८), अग्रगामी (१९३८), आर्यावर्त (१९४२), राष्ट्रवाणी (१९४२), संसार (१९४३), नया हिन्दुस्तान (१९४४), जयहिंद (१९४६) और सन्मार्ग (१९४६)। और भी अनेक दैनिक सामने आये है और आज बम्बा से हिमालय और अमृतसर से कलकत्ता तक उनका ताना-बाना बुना हुआ हैं। दैनिक पत्र-कला का विशेष विकास पिछले दो महायुद्धों के बीच में हुआ है और अभी वह अंग्रेजी दैनिकों की तुलना मे छोटी पडती है, परन्तु इसमें सन्देह नही कि उसकी जड़े देश की मिट्टी में दूर तक चली गई हैं और स्वतन्त्र भारत के नव-निर्माण मे उसका महत्त्व उसी प्रकार अप्रतिम रहेगा जिस प्रकार राष्ट्रीय जन-संग्राम मे उसका नेतृत्व अक्षुण्ण था।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि आज की हिन्दी-पत्रकारिता के पीछे लगभग १२५ वर्षों की परम्परा है। आधुनिक साहित्य के अनेक अंगो की भाँति हमारी-पत्रकारिता की नई कोटि है और उसमे भी मुख्यतः हमारे मध्यवित्त समाज की सामाजिक, सास्कृतिक, साहित्यिक और राजनैतिक हलचलों का प्रतिबिम्ब है। वास्तव में पिछले १२५ वर्षों का सच्चा इतिहास हमारी पत्र-पत्रिकाओं से ही संकलित हो सकता है। बंगला मे 'से कालेर कथा' ग्रन्थ में पत्रो के अवतरणों के आधार पर बंगाल के उन्नीसवी शताब्दी के मध्यवित्ती जीवन के पुनर्निर्माण का प्रयत्न हुआ है। हिन्दी मे भी ऐसा प्रयत्न वाछनीय है। एक तरह से उन्नीसवीं शती में साहित्य कही जा सकने वाली चीज बहुत कम है और जो है भी, वह पत्रो के पृष्ठो मे

ही पहले-पहल सामने आई है। भाषा-शैली के निर्माण और जातीय शैली के विकास मे पत्रों का योग-दान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है, परन्तु बीसवीं शती के पहले दो दशकों के अन्त तक मासिक पत्र और साप्ताहिक पत्र ही हमारी साहित्यिक प्रवृत्तियो को जन्म देते और विकसित करते रहे हैं। द्विवेदी युग के साहित्य को हम 'सरस्वती' और 'इंदु' मे जिस प्रयोगात्मक रूप मे देखते हैं, वही उस साहित्य का असली रूप है। १९२१ ई० के बाद साहित्य बहुत-कुछ पत्र-पत्रिकाओं से स्वतन्त्र होकर अपने पैरों पर खड़ा होने लगा, परन्तु फिर भी विशिष्ट साहित्यिक आन्दोलनों के लिए हमे मासिक पत्रो के पृष्ठ ही उलटने पड़ते हैं। राजनीतिक चेतना के लिए तो पत्र-पत्रिकाएँ महत्त्वपूर्ण है ही। वस्तुतः पत्र-पत्रिकाएँ जितनी बड़ी जन-संख्या को छूती हैं, विशुद्ध साहित्य का उतनी बड़ी जन-संख्या तक पहुँचना असम्भव है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद पत्र-पत्रिकाओ का महत्त्व और उनका उत्तरदायित्व बढ़ा है। आज हिन्दी राष्ट्रभाषा घोषित हो गई है और कई प्रान्तो मे वही एक-मात्र राजकीय भाषा है। हिन्दी-पत्रकारिता धीरे-धीरे अंग्रेजी पत्रकारिता का स्थान ले रही है और निकट भविष्य में हम उसे और भी व्यापक और सशक्त देख सकेंगे।



डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल

हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव

'संस्कृत हमारी भाषा के लिए गंगा नदी है। मुझे लगता रहता है कि वह सूख जाय तो भाषाएँ निर्माल्य बन जायेंगी।'

—महात्मा गांधी

हिन्दी संस्कृत की पुत्री है। पुत्री सर्वांश में माता का वैभव-विकास होती है। हिन्दी का जीवन-रस संस्कृत के सारस्वत स्रोत से प्रवाहित हुआ है। हिन्दी का यह महान् गौरव है। भाषा, शब्दावली, व्याकरण, भाव, वस्तु, आदर्श और परम्परा—प्रत्येक क्षेत्र में हिन्दी पर संस्कृत का भरपूर ऋण है। अथवा उदार मन से सोचें तो हिन्दी ने संस्कृत से उन्मुक्त दान पाया है। हिन्दी की स्थिति उस कोपल के समान है जो प्राचीन पर्ण का उत्तराधिकार सँभालकर नव जीवन के लिए फुटाव लेती है। भाषाओं का विकास अवश्यम्भावी है। मानवी संस्थाओं के समान भाषा भी परिवर्तित होती है। वैदिक भाषा, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन लोक-भाषा और अर्वाचीन हिन्दी—इस क्रम से तीन सहस्र वर्षों से भी अधिक लम्बे समय तक इस देश में भाषा और साहित्य का अनवरत विकास होता रहा है। हिन्दी उसकी अन्तिम कड़ी है; और जहाँ तक मध्य देश का सम्बन्ध है हिन्दी ने ही साहित्य और संस्कृति के इस बहुमूल्य ब्रह्मदाय को सर्वांश में प्राप्त किया है। मनु के शब्दों में मध्यदेश भारत का हृदय है। आज मध्यदेश की भाषा राष्ट्रीय गौरव से सम्पन्न हुई है। भारत के भाषा-सम्बन्धी इतिहास की यह स्वाभाविक पूर्णता हुई है।

वैदिक भाषा इस देश की प्राचीनतम भाषा है जिसका साहित्य इस समय भी उपलब्ध है। शब्द-सम्पत्ति और भाव-प्रकाशन की दृष्टि से वह अत्यन्त समृद्ध भाषा थी। हिन्दी की निजी प्रकृति तो वैदिक भाषा के साथ ही अस्तित्व में आ गई थी। धातु और प्रातिपदिक, प्रकृति और प्रत्यय, समास और वाक्य, कृदन्त और तद्धित, देश वाचक, काल वाचक, सम्बन्ध वाचक शब्द—इस प्रकार भाषा का भरा-पूरा ठाट वैदिक भाषा में ही मिलने लगता है जो विकास के प्रत्येक चरण में और सशक्त बनता गया, एवं उसकी जो मौलिक भाषा-कल्पना थी वह उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती हुई अन्त में हिन्दी को मिली है। विराट् प्रकृति, अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी, द्युलोक, गृहस्थ-जीवन, कर्म और ज्ञान, मन और प्राण, धन और सुवर्ण, शरीरावयव और सौन्दर्य, नृत्य-गान, वस्त्राभूषण, खान-पान, पशु-पक्षी, औषधि-वनस्पति, वीरता और युद्ध, देवी-देवता, इत्यादि अनेक क्षेत्रों में शब्दों और भावों का समृद्ध भंडार वैदिक युग में ही प्राप्त होता है।

उदाहरण के लिए अकेले कवर्ग के अन्तर्गत हमारे जीवन के अधिकांश प्रमुख शब्द ऋग्वेद की भाषा में से अस्तित्व में आ चुके थे—कवि, कर्म, कन्या, ककुद्मान, कक्ष्या, कतम, कति, कतिधा, कटा, कनिष्ट, कपर्दी, कपि, कपोत, कपिल, करण, कर्ण, कर्ता, कर्मण्य, कला, कल्प,

कल्याण (कल्याणी), कवित्व, काव्य, कश्यप, काम, कामी, काम्य, काल, किरण, किल्विप, कुण्ड, कीनाश (=किसान), कुक्षि, कुमार, कुम्भ, कुल, कुलिश, कुल्या, कूप, कूल, कूट, कृच्छ्र, कृत, कृति, कृपण, कृपा, कृश, कृशानु, कृषि, कृष्ण, केतु, केवट, केवल, केश, केशी, केशिनी, कोप, कोश, क्रतु, क्रन्दन, क्रमण, क्रियमाण, क्रीडन्त, क्रुद्ध, क्षत्र, क्षत्रिय, क्षपा, क्षमा, क्षय, क्षर, क्षिति, क्षिप्र, क्षीर, क्षीरपाक, क्षुद्र, क्षुधा, क्षुर, क्षेत्र, क्षेम, क्षोणी, क्षोद, क्षोभण, क्ष्मा। इनमें से कुछ शब्द ज्यो के-त्यो और कुछ रूप बदलकर आज हिन्दी भाषा की निधि हैं। विकास की लम्बी पगडंडी पार करते हुए वे हिन्दी को अपने उप.कालीन तेजस्वी रूप में प्राप्त हुए हैं। कवि, काव्य, कला, काल, काम, कर्म, कृषि, कोश, क्षेत्र, क्षीर, कल्याण-जैसे शब्द हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-ससार के रोम रोम मे व्याप्त है; हिन्दी के चिन्तन के वे ऐसे ही स्फुट प्रतीक हैं जैसे वैदिक युग मे वैदिक दर्शन के लिए थे। इसी प्रकार वैदिक भाषा सच्चे अर्थों मे हिन्दी की आद्या जननी थी। उस कामधेनु के क्षीर से हिन्दी का अंग-प्रत्यंग आज तक पोषित है। गण, गणपति, गति, गंगा, गम्भीर, गौ, गाथा, गिरा, गिरि, गुरु, गुहा, गुह्य, गृह, गृहपति, गोत्र, गोप, गौरी, ग्राम, ग्रीष्म—इनमे से प्रत्येक शब्द ऋग्वेदकालीन होते हुए भी हिन्दी के उदार प्रागण मे किलोल कर रहा है। काल क्रम से इतिहास के थपेड़ों ने शब्दो का भी रूप बदल दिया है। ककुन् से कउआ—कौआ, कपर्द से कवड्ड—कउड्ड—कौडा, कुक्षि से कुक्खि—कोख, कतिधा से कइहा, क्षीर से खीर, क्षुद्र से खुद्द-खूद, क्षोद से खोवा—ये नये शब्द प्राकृत और अपभ्रंश के प्रभाव से बने और लोक-भाषाओ मे घुल-मिल गए है। हिन्दी के विकास की प्रकृति निराकरण-प्रधान नहीं है, वह कई रूपो को स्वीकार करती है। आज हिन्दी की भाषा-शैली मे ककुन् और कौआ दोनो मान्य है। वैदिक क्षपा से पहलवी—फारसी के साँचे मे ढलकर शब (=रात) शब्द भी हिन्दी को प्राप्त हुआ है जो शबनम मे प्रयुक्त है। हिन्दी की उदार वृत्ति उसके प्रति भी कुण्ठित नही है। इस प्रकार हिन्दी का पवित्र यज्ञ वैदिक-संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश की सुदीर्घकालीन इष्टकाचिति से सम्पादित वेदी मे सम्पन्न हो रहा है।

न केवल शब्द, बल्कि अर्थ और भावो के लिए भी हिन्दी संस्कृत के अमृत जल से प्रोक्षित है। उदाहरण के लिए—

यस्ते अद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने। (ऋ० १०।४५।६)

'मन्दी-मन्दी आँच पर जो घृतयुक्त मालपूए आज हमने तैयार किये हैं।' इस गृहस्थी जीवन की नित्य परिचित स्थूल घटना को जिस सुन्दर ऋग्वेदीय वाक्य मे कहा गया है वह पढते ही प्रत्येक हिन्दी-भाषी के हृदय के निकट की वस्तु प्रतीत होती है। अथवा, अध्यात्म अर्थ की दृष्टि से—

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णा विदज्जरितारम्। (ऋ० ७।८९।४)

इस सन्ध्या भाषा के कितना निकट है, मानो आध्यात्मिक अनुभव की एक ही धारा की दो लहरें हो। श्री आनन्दकुमार स्वामी का तो यह अनुभवसिद्ध अभिमत था कि ऋग्वेद के ऋषियो को जो विदित था। उसमे उपनिषदो ने नया कुछ नहीं जोड़ा।[1] अध्यात्म विचारो की अनेक

१. 'I am sure that the Upnisads add nothing *new* to what must have been understood by the "authors" of the Rigveda, who could not have written what they did without knowing what they were doing'

(१३ मई, १९३९ के एक पत्र मे)

धाराएँ इस देश मे प्रवाहित हुई। उपनिषदों मे, पुराणों में, दर्शनो में वे बहुत प्रकार से पल्लवित हुई, और पारस्परिक आदान-प्रदान से अनुगृहीत होती रहीं। संस्कृत के महाकाव्यो और भारतीय कलाओ पर भी विचारो के उन मौलिक अभिप्रायो की छाप पड़ी है। वैदिक 'देवासुरम्', देवो और असुरो के विराट् संघर्ष की कल्पना बार-बार संस्कृत काव्यो और पुराणों मे आती है। पुराणो के गाथा-शास्त्र का अधिकांश ठाठ इसी अभिप्राय से निर्मित हुआ है। राम और रावण के युद्ध की कल्पना भारतीय अध्यात्म की उसी प्राचीन बारहखड़ी से बनी है, जो कालान्तर मे हिन्दी के और अन्य प्रादेशिक भाषाओ के रामायण-वाङ्मय की जनयित्री हुई। वाल्मीकि ने संस्कृत-रामायण मे जिस शब्द ब्रह्म का दर्शन किया उसके सहस्रमुखी पुष्कल विधान का बल पाकर ही देशभाषाओ का रामायण-साहित्य बना है और जैसा गोस्वामी जी ने लिखा है, इस साहित्य मे अनेक पुराण और वेद, शैव और वैष्णव आगम, एवं कितने ही अन्य स्रोतो से स्वच्छन्द सामग्री का ग्रहण किया गया है। वेदमत, सन्तमत, लोकमत—तीनो परम्पराएँ हिन्दी के धर्मानुप्राणित काव्य-साहित्य से मिली है। जिन वर्णों और अर्थ-संघो का, रसो और छन्दो का, एवं ज्ञान (बोध) और विज्ञान का 'रामचरितमानस' के आरम्भ मे स्मरण किया गया है उनका पूर्ण विकसित क्षेत्र संस्कृत-साहित्य मे ही था जो कवि को इष्ट है। अक्षर और अर्थ, नाना अलंकार और अनेक प्रकार के छन्द, भाव-भेद और रस-भेद—काव्य-सम्बन्धी ये विशेषताएँ भी संस्कृत-साहित्य के मूल स्रोत से हिन्दी-काव्य को मिली थी और आज भी मिल रही हैं। किन्तु काल-क्रम से, राष्ट्र की प्रतिभा ने और भी जिस वस्तु का नया सृजन किया, वह भी हिन्दी के कवियो और साहित्यिकों को मान्य और शिरोधार्य रहा है। इसी भावना से गोसाईं जी ने लिखा था :

जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने॥
भये जे अहहिं जे होइहहिं आगे। पनवो सबनि कपट छल त्यागे॥

प्राकृत साहित्य की जो कुछ देन थी, भाषा अर्थात् अपभ्रंश-काव्यो की जितनी परिपाटी थी सबको स्वीकार करके, अपना बनाकर हिन्दी की मानस-मन्दाकिनी आगे बढ़ी। और दूसरी चौपाई मे तो, गोसाईं जी भविष्य के लिए भी हिन्दी-भाषा की नीति निर्धारित कर गए हैं। जो हो चुके हैं, जो इस समय वर्तमान हैं, जो आगे जन्म लेंगे, उन समस्त काव्य और कवियो को, साहित्य और साहित्यिकों को हिन्दी के लेखक की प्रणामाञ्जलि अर्पित है, हिन्दी-भाषा उन सबके प्रति स्वागत की आरती सँजोती है। यही हिन्दी की उदार वाणी है। हिन्दी गंगा की धारा के समान समन्वय का मन्त्र पाकर आगे बढ़ी है। वह न केवल अपने प्राचीन 'नाना पुराण निगमागम' साहित्य से उपकृत हुई है, बल्कि 'क्वचिदन्यतोऽपि,' अन्य स्थानो से भी जो उपयोगी तत्त्व उसे मिलता है उसे सिर माथे पर रखती है। हिन्दी सारवस्तु के निराकरण की बात सोचती ही नहीं। यह हिन्दी का आत्मधर्म है।

'व्यास आदि कविपुङ्गव नाना'—इस पंक्ति में संस्कृत-साहित्य के सभी महाकवि और उनकी कृतियाँ परिगृहीत हैं। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भारवि, माघ, हर्ष, बाण, दण्डी, भवभूति, सबने हिन्दी को प्रभावित किया है। इनमे से अनेकों के अनुवाद, भावार्थ हिन्दी में हुए हैं। 'बन्दौ मुनिपदकंज रामायन जेहि निरमयेउ' के द्वारा तुलसीदास जी ने 'वाल्मीकि रामायण' को कालिदास के सदृश अपने सम्मुख रखा था। तब से लेकर भारतेन्दु जी के पिता श्री गिरिधरदासजी-कृत 'वाल्मीकि रामायण' (सातो काण्ड पद्यानुवाद) तक वाल्मीकि के कई अनुवाद और

भावार्थ हिन्दी को प्राप्त हुए। छत्रधारी ने संवत् १६१४ में 'वाल्मीकि रामायण' के तीन काण्डों का अनुवाद किया; सन्तोषसिंह ने सं० १८६० में उसका भाषानुवाद किया; और गणेश कवि ने 'वाल्मीकीय रामायणश्लोकार्थ प्रकाश' के नाम से रामायण के बालकाण्ड तथा सुन्दरकाण्ड के पाँच सर्गों का भाषानुवाद किया। वस्तुतः १५वीं शती से १८वीं शती तक हिन्दी का जो पद्य और गद्य-साहित्य बना उसका शतांश भी अभी नहीं छपा। भाषा के विकास और साहित्य के इतिहास के लिए उसका प्रकाशन आवश्यक है। 'अध्यात्म रामायण' के भी हिन्दी में अनुवाद हुए। रामचरित और रामायण के अन्य पात्रों पर हिन्दी में सहस्राधिक ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें कुछ पूर्व भाव लेकर और कुछ नई कल्पना से लोक में राम-कथा का विकास और रूप-परिवर्तन होता रहा। इसी प्रकार 'महाभारत' और उसके खंड-कथानकों पर हिन्दी में बराबर ही कार्य होता रहा। १८वीं शती में कवि रघुनाथ के पुत्र गोकुलनाथ, पौत्र गोपीनाथ और गोकुलनाथ के शिष्य मणिदेव ने 'महाभारत' का भाषा में अनुवाद किया था जिसकी प्रति काशि-राज के पुस्तकालय में है और अभी तक अप्रकाशित है। सं० १७५७ में छत्रसिंह ने 'विजय-मुक्तावली' के नाम से महाभारत की कथा स्वतन्त्र प्रबन्ध-काव्य के रूप में कई छन्दों में लिखी। दिग्गज कवि ने सं० १७६६ में 'भारत-विलास' नाम से महाभारत की कथा का वर्णन किया। मनसाराम पाण्डे ने सं० १८६४ में महाभारत की संक्षिप्त कथा 'भारत-प्रबन्ध' के नाम से लिखी। सं० १६१२ में नवलसिंह ने महाभारत को अपनी साहित्य-साधना का प्रिय विषय बनाकर 'मूल-भारत', 'भारत-सावित्री', 'भारत कवितावली', 'भारतवार्तिक' की हिन्दी में रचना की। हिन्दी-साहित्य के इतिहास की परम्परा में ये सब ध्यान देने योग्य हैं। १८वीं शती में विशेष रूप से हिन्दी के साहित्यिकों ने संस्कृत-साहित्य के भाषानुवाद की ओर ध्यान दिया था। 'भगवद्गीता' के भी अनुवाद उस समय और बाद में हुए। सं० १७६१ में आनन्दराम ने 'परमानन्द प्रबोध' नाम से गीता का अनुवाद किया, और सं० १७६२ में जनभुवाल ने 'कृष्णार्जुन संवाद' नाम से गीता का हिन्दी-रूपान्तर किया। भगवानदास ने सं० १७५६ से गीता की रामानुजी टीका का 'भाषामृत' नाम से अनुवाद किया। संस्कृत भागवत् को आधार बनाकर हिन्दी-साहित्य में अनुवाद और नूतन रचना की बाढ़ ही आ गई। कृष्ण भक्ति-शाखा में भगवत्सेवा का जैसा भारी मंडान है उससे कम विस्तृत साहित्य का मंडान नहीं है। भागवत की लीलाओं का गान करने वाले अष्टछाप के कवि और उनके सहस्रों अनुकर्ताओं ने कृष्ण साहित्य का खूब विस्तार किया जिसमें संस्कृत-साहित्य के भाव, शब्दावली और रूप-विधान का स्वच्छन्द आश्रय लिया गया है। रास, दान, मान, गोवर्धन आदि लीलाएँ संस्कृत और हिन्दी दोनों में समान प्रिय हुईं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रभाव जयदेव के पद-साहित्य का है। कृष्ण-भक्ति-शाखा का साहित्य पद-साहित्य ही है। न केवल हिन्दी, वरन् अन्य प्रादेशिक भाषाओं में भी संस्कृत की पद-साहित्य-परम्परा खूब फैली। कन्नड भाषा के दास कवियों का पद-साहित्य अत्यन्त प्रभावशाली है।

हिन्दी का नायिका-भेद-सम्बन्धी साहित्य संस्कृत पर आश्रित है। इनमें भानुदत्त-कृत 'रसमंजरी'(१५वीं शती विक्रमी) अत्यन्त प्रसिद्ध संस्कृत-ग्रंथ है, जिसके आधार पर अनेक भाषा-ग्रंथों की रचना हुई। भानुदत्त के आधार पर कृपाराम ने सं० १५६८ में 'हित-तरंगिनी' नामक नायिका-भेद का सबसे प्राचीन ग्रंथ लिखा। प्रसिद्ध भक्त कवि नन्ददास ने भी भानुदत्त कृत रसमंजरी के आधार पर ही 'हिन्दी-रसमंजरी' (नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रंथ) की रचना संवत् १६२४-३० के

लगभग की। (रसमंजरी अनुसार कै नन्द सुमति अनुसार। वरनत बनिता-भेद जहँ प्रेमसार विस्तार॥) शाहजहाँ के काल मे सं० १६८८ मे सुन्दरदास ने 'सुन्दर शृङ्गार' नामक नायिका-भेद पर ग्रंथ लिखा। इन्होने ही ब्रजभाषा मे 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' का भी अनुवाद किया था और 'ज्ञान-समुद्र' नाम से एक दार्शनिक ग्रंथ भी लिखा। संवत् १६४८ मे केशवदास जी ने विविध संस्कृत-ग्रंथों को आधार बनाया। 'रसिकप्रिया' ग्रंथ लिखा, जो काव्य की सरसता और भावो की प्रौढ़ता की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट रचना मानी जाती है। सुन्दरदास और केशवदास के ग्रंथो का दक्षिण के मुसलमान कवि अकबर शाह ने अपनी संस्कृत 'शृङ्गार-मंजरी' मे भी प्रमाणोल्लेख किया है। चिन्तामणि ने सं० १७०७ मे 'कवि कुल कल्पतरु' की रचना की, जिसमे नायिका-भेद के अतिरिक्त काव्य-शास्त्र के अन्य अंगो का भी मार्मिक विवेचन किया गया है। हिन्दी-भाषा का शृङ्गार-सम्बन्धी रीतिकालीन साहित्य संस्कृत-साहित्य की परम्परा से ही अनुप्राणित हुआ है। मतिराम और देव ने इस साहित्य को अत्यन्त सरस बनाया और खूब पल्लवित किया। काव्य-शास्त्र के सभी विषयों पर देव ने ग्रन्थ-रचना की और नायिका-भेद-विषयक कितने ही ग्रन्थ लिखे। कहा जाता है कि उन्होने संस्कृत मे 'शृङ्गार विलासिनी' नामक एक ग्रन्थ सं० १७५७ मे बनाया जिसमें हिन्दी के छन्द छप्पय, सवैया, दोहा आदि प्रयुक्त हुए हैं। १८वीं शती मे हिन्दी-भाषा और उसके बाह्य रूप-विधान की प्रौढ़ता इससे सिद्ध होती है। हिन्दू और मुसलमान, कोई भी दरबार ऐसा उस समय न था जहाँ हिन्दी की कविता और साहित्य को समाश्रय न मिला हो। हिन्दी का विस्तृत काव्य-लक्षण-सम्बन्धी-साहित्य संस्कृत की देन है। मम्मट आदि आचार्यों ने जो-कुछ इस विषय मे परिपक्व चिन्तन किया था उसे हिन्दी के आलंकारिक आचार्यो ने अपना उपजीव्य बनाया। काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, शब्दार्थ, ध्वनि, भाव-भेद, रस, अलंकार, काव्य के गुण-दोष, चित्र काव्य आदि विषयो पर हिन्दी के आलंकारिक आचार्यो ने संस्कृत की परम्परा का अनुसरण करते हुए गहरी छान-बीन की। हिन्दी-काव्य-सम्बन्धी शब्दावली और परिभाषाएँ प्रायः वे ही हैं जो संस्कृत में थी। सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' ने सं० १७९६ मे 'रस-प्रबोध' नामक ग्रन्थ के सहस्राधिक दोहो मे रस-भेद, भाव-भेद और नायिका-भेद का सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन करते हुए पारिभाषिक शब्दावली संस्कृत की ही रखी, यथा असाध्या नायिका के पाँच उपभेदो मे सभीता, गुरुजनसभीता, दूतीवर्जिता, अतिक्रान्ता आदि नाम शुद्ध संस्कृत के हैं। संस्कृत ग्रन्थो से भी अधिक जहाँ विषय का विस्तार किया जाता था, वहाँ भी शब्दावली के निर्माण मे संस्कृत की ही परम्परा बरती जाती थी। सभी शास्त्रीय ग्रन्थो मे आज तक हिन्दी की यही पद्धति रही है अर्थात् संस्कृत-जन्य परिभाषा और शब्दावली की रक्षा। कहीं-कहीं लेखकों ने स्पष्ट कहा है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ का विषय संस्कृत से लिया है, जैसे चन्द्रशेखर कवि ने अपने 'रसिक-विनोद' ग्रन्थ में नवरस का वर्णन सं० १९०३ भरत मतानुसार किया है। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य के लिए यह पूरे खोज-निबन्ध का विषय है कि संस्कृत-ग्रन्थों से हिन्दी का काव्य, अलंकार, रस और नायिका-भेद-सम्बन्धी साहित्य कहाँ तक अनुप्राणित और उपकृत हुआ है।

हिन्दी के पूर्व विद्वान् संस्कृत के नाटक और काव्य-साहित्य के भी अति सन्निकट थे। संस्कृत के सभी प्रसिद्ध ग्रन्थो का हिन्दी में अनुवाद किया गया। जिस वर्ष गोस्वामी जी का स्वर्ग-वास हुआ उसी वर्ष सं० १६८० में पंजाब के कवि हृदयराम ने संस्कृत 'हनुमन्नाटक' के आधार पर 'भाषा हनुमन्नाटक' लिखा, जिसकी कविता बड़ी सुन्दर और परिमार्जित है। औरङ्गजेब के

समकालीन मारवाड़ के महाराज जसवन्तसिंह ने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक का अनुवाद किया। औरंगजेब के पुत्र आजमशाह के आश्रित निवाज कवि ने सं० १७३७ में 'शकुन्तला' का अनुवाद किया। कवि गणेश-कृत-'प्रद्युम्नविजय' नाटक अनेक प्रकार के छन्दों में सात अंकों में समाप्त हुआ है, जो रचना की दृष्टि से स्वतन्त्र होते हुए भी पुराने संस्कृत कथानक पर आश्रित है। संस्कृत नाटकों के भाषानुवाद की यह परिपाटी राजा लक्ष्मणसिंह और कविवर सत्यनारायण तक चली आई। वस्तुतः हिन्दी में इस परम्परा को और भी अधिक आश्रय मिलना चाहिए था।

हिन्दी का प्राचीन नीति-साहित्य और दर्शन-साहित्य भी अधिकांशतः संस्कृत की देन है। कृष्ण कवि ने सं० १७६२ में 'विदुर प्रजागर' की रचना की। 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश'-जैसे विश्व-प्रसिद्ध ग्रन्थों के भी हिन्दी में अनुवाद हुए। दार्शनिक साहित्य तो हिन्दी का अत्यन्त विस्तृत है जिसका क्रमबद्ध इतिहास अभी लिखा जाना शेष है। ऊपर गीता के अनुवादों का उल्लेख हो चुका है। सं० १८३७ में अनेमानन्द ने 'नाटक दीप' के नाम से 'भाषा पंचदशी' की रचना की। श्री लल्लूलाल से भी ६२ वर्ष पूर्व के प्रौढ़ गद्य-लेखक श्री रामप्रसाद निरंजनी ने सं० १७६८ में 'भाषा योगवसिष्ठ' नाम का गद्य-ग्रन्थ बहुत साफ-सुथरी खड़ी बोली में लिखा। ये हिन्दी के प्रथम प्रौढ़ गद्य-लेखक माने जा सकते हैं, जिनकी भाषा शुक्ल जी के अनुसार अत्यन्त शृंखला-बद्ध साधु और व्यवस्थित है। 'योगवसिष्ठ' का एक अनुवाद सं० १७१४ में ही हो चुका था। रामप्रसाद के बाद भी तीन अनुवाद हुए। प्रसिद्ध भिखारीदास जी ने 'विष्णु-पुराण' का भी भाषानुवाद किया था। धर्म, नीति और दर्शन-सम्बन्धी अनेक प्रसंग हिन्दी-साहित्य में सीधे संस्कृत से आते रहे हैं। निर्गुण और सगुण दोनों शाखाओं पर संस्कृत के दार्शनिक चिन्तन की गहरी छाप है। भक्ति-संयुत वेदान्त यही हिन्दी-साहित्य का राष्ट्रीय दृष्टिकोण १८वीं शती तक टकसाली था। इस महान्यग्रोध की जड़ें निश्चय ही संस्कृत साहित्य में फैली हुई हैं।

लीलावती, ज्योतिष, माधवनिदान, शालिहोत्र, अमर कोष आदि वैज्ञानिक साहित्य के भी कितने ही अनुवाद हिन्दी में पाए जाते हैं। अपभ्रंश युग से ही ये विषय संस्कृत से लोक-भाषा में आने लगे थे। ठक्कुर फेरु ने, जो अलाउद्दीन के समय में दिल्ली की टकसाल के अध्यक्ष थे, गणित, रत्न परीक्षा, ज्योतिष आदि विषयों पर ग्रन्थ लिखे; जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण 'द्रव्य-परीक्षा' है, जो भारतीय सिक्कों पर एक-मात्र उपलब्ध ग्रन्थ है और जिसमें ६वीं शती से १३वीं शती तक के लगभग तीन सौ सिक्कों के नाम मोल-तोल दिये गए हैं।

हिन्दी-साहित्य में सतसई, शतक, पंचाशिका, बत्तीसी, बहत्तरी, बावनी, आदि के ढंग सैकड़ों ग्रन्थ हैं, जिनका बाहरी विधान संस्कृत से आया है। संस्कृत-प्राकृत में 'गाथा सप्तशती', 'आर्या सप्तशती' प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। हिन्दी में सतसई की परम्परा खूब फूली-फली। गुप्त-काल में ही सिद्धसेन दिवाकर ने ३२ बत्तीसियों की रचना की थी। 'सांख्य सप्तति' प्रसिद्ध ही है। बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में रास पदों का उल्लेख किया है, जो परम्परा हिन्दी के रास, रासो, रासा ग्रन्थों में पल्लवित हुई। यह किसी समय लोक-साहित्य था, जो पीछे लिखित साहित्य के रूप में आ गया।

संस्कृत-साहित्य और भाषा हिन्दी के रोम-रोम में व्याप्त रही है। जैसा गान्धी जी ने अपने आर्ष अनुभव से लिखा था वह ध्रुव सत्य है—'संस्कृत हमारी भाषा के लिए गंगा नदी है। मुझे लगता रहता है कि वह सूख जाय तो भाषाएँ निर्माल्य बन जायँगी।' संस्कृत का अमृत हिन्दी

को मिलते रहना चाहिए। उस स्रोत में हिन्दी की जीवनदायिनी प्राण-धारा का रस है। हिन्दी के विकास की एक विशेषता यह रही है कि संस्कृत से इतना सान्निध्य रखते हुए भी उसने अपनापन बनाए रखा और अपने रूप-विधान के लिए अनेक प्रकार के नये छन्द, साहित्यिक रूप और भाषा-शैलियों का स्वाभाविक विकास किया है। कहीं भी हिन्दी की प्रगति संस्कृत के भार से कुण्ठित नहीं हुई। जहाँ भी संस्कृत की धारा मिली वहीं हिन्दी ने नवजीवन प्राप्त किया। वस्तुतः अपभ्रंश के बाद संस्कृत के शब्द-रूपों का वरदान पाकर ही हिन्दी की नवीन शैली प्रवृत्त हुई। इसका सर्वोत्तम रूप रामायण में मिलता है : 'नव रसाल वन विहरणशीला। सोह कि कोकिल विपिन करीला।' हिन्दी की परिमार्जित और टकसाली शैली है। उसी के साथ जनपदीय शैली भी कन्धे-से-कन्धा मिलाकर चलती रही। उसी रामायण में गाँवों की यह शैली भी घुली मिली है :

सुन केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुना अयन, चितइ जानकी लषण तन ॥

अथवा

सीय समीप ग्रामतिय जाहीं। पूछत अति सनेह सकुचाहीं ॥
बार बार सब लागहि पाए। कहहिं बचन मृदु सरल सुभाए ॥
राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिय सुभाय कछु पूँछत डरहीं ॥
स्वामिनि अविनय छमबि हमारी। बिलगु न मानबि जानि गँवारी ॥

वस्तुतः भाषा की दृष्टि से गोसाई जी ने 'रामचरित मानस' और 'विनयपत्रिका' में जितने बहुसंख्यक संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है उतने नए शब्द संस्कृत के कवियों में भी विरलों ने ही प्रयुक्त किये है।

हिन्दी-प्रबन्ध-काव्यों के भीतर की वर्णन-शैली और वस्तु-विधान पर भी संस्कृत-साहित्य का घनिष्ठ प्रभाव था। दण्डी ने महाकाव्य के लक्षण गिनाते हुए लिखा कि अच्छे प्रबन्ध काव्य में पुत्र-जन्म, विवाह, उद्यान-क्रीडा, सलिल-क्रीडा, दिग्विजय, सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रोदय आदि के वर्णन रहने चाहिएँ। हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में ये लक्षण अति स्पष्ट हैं। संस्कृत,प्राकृत, अपभ्रंश की परिपाटी के अनुसार काव्य के आरम्भ में सज्जन-प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा का वर्णन रहना चाहिए, कालिदास और बाण ने भी इस पद्धति का कलात्मक ढंग से निर्वाह किया। 'भविसयत्तकहा' नामक अपभ्रंश-काव्य के आरम्भ में सज्जन-दुर्जन-लक्षणों का विस्तृत वर्णन आया है। 'रामचरित मानस' में उसी परम्परा का निर्वाह किया गया है। इसी प्रकार किसी उद्यान में सरोवर के तट पर स्थित मन्दिर में देव-पूजन के लिए आई हुई नायिका और नायक का सम्मिलन प्राचीन अभिप्राय था। 'कादम्बरी' म महाश्वेता-वृत्तान्त में वह मिलता है। उसी का निर्वाह तुलसी और जायसी ने किया है। तुलसीदास जी ने चन्द्रोदय का वर्णन करते हुए सिंह का उपमान दिया हैं जो 'रामायण' का अत्यन्त उत्कृष्ट साहित्यिक स्थल है :

पूरब दिसि गिरि-गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी ॥
मत्त नाग तम कुम्भ बिदारी। ससि केसरी गगन बन चारी ॥
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा। निसि सुन्दरी केर सिंगारा ॥

इसकी तुलना बाण के निम्न लिखित वर्णन से करने पर कितना सादृश्य मिलता है :

शशिकेसरिविदार्यमाण तमः करिकुम्भसम्भवेन मुक्ताफलच्छोटेनेव धवलतामुपनीयमानमुदयगिरि सिद्धसुन्दरी कुचच्युतेन चन्दनचूर्णराशिनेव पांडुरी क्रियमाणम्। (कादम्बरी)

अथवा

जहाँ विलोकि मृगसावक नयनी। जनु तहँ बरिस कमल सित श्रयनी॥

की सुन्दर उत्प्रेक्षा संस्कृत-साहित्य में चिर परिचित है।

बाण ने लिखा है : अपाग विक्षेपैश्चलित कुवलयवनमयीमिव क्रियमाणामवनीन।

संस्कृत और हिन्दी में इस प्रकार सादृश्य सम्बन्धों की इयत्ता नहीं है। संस्कृत की शब्द-सम्पत्ति और कल्पना-समृद्धि हिन्दी की निसर्ग-प्राप्त निधि रही है। संस्कृत के पुष्कल रूप-संभार का उत्तराधिकार प्राप्त करके हिन्दी उससे भी आगे बढ़ी और उसने भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी शैली का अपना रूप-लावण्य प्राप्त किया। वही हिन्दी का निजी तेज है।

भविष्य के लिए तो हिन्दी का उत्तरदायित्व और भी महान् है। संस्कृत-साहित्य और भारतीय संस्कृति की अभूतपूर्व जानकारी पिछले सौ वर्षों में हमारे राष्ट्र को प्राप्त हुई है। उस समस्त निधि को हिन्दी के माध्यम से प्रस्तुत करना होगा। भारतीय संस्कृति, इतिहास, कला और साहित्य के सम्बन्ध में अनुसंधान, प्रकाशन और ग्रन्थ-प्रणयन का समस्त उत्तरदायित्व हिन्दी भाषा को उठाना होगा। यह हिन्दी की पद-प्रतिष्ठा के अनुकूल है। दूसरे संस्कृत-साहित्य में जितना भी ज्ञान-विज्ञान, सास्कृतिक जीवन की सामग्री और साहित्यिक रस है उसे हिन्दी के माध्यम से प्रकट करना होगा। तभी हमारे राष्ट्र की सास्कृतिक परम्परा अविच्छिन्न रहेगी। 'ऋग्वेद' से लेकर पतंजलि के 'महाभाष्य' तक, एवं 'महाभारत' से लेकर मम्मट के 'काव्यप्रकाश' तक समस्त संस्कृत-वाङ्मय का अवतार हिन्दी को होना चाहिए। इसी प्रकार बौद्ध संस्कृत-साहित्य, प्राकृत और अपभ्रंश की उपलब्ध सामग्री हिन्दी में आनी उचित है। किसी युग में मध्य-एशिया से यवद्वीप तक संस्कृत का क्षेत्र था। संस्कृत न केवल भारत की राष्ट्रभाषा थी, बल्कि एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी थी। अब स्वदेश में यह स्थान हिन्दी को मिला है अतएव हिन्दी का कर्तव्य भी उतना ही विस्तृत है। सौभाग्य से संस्कृत-भाषा शब्द-रचना और भावों की दृष्टि से कामधेनु है। यही हिन्दी के अभ्युदय के मार्ग में बड़ा विश्वास है। संस्कृत के प्रति अपना मनोभाव हमें स्वच्छ कर लेना चाहिए। राष्ट्रीय संविधान ने इस निश्चय पर मुहर लगा दी है कि हिन्दी की वैज्ञानिक शब्दावली संस्कृत से ली जायगी। विज्ञान-सम्बन्धी लाखों शब्दों का हमें निर्माण करना है। यूरोप ने ग्रीक और लैटिन से अपने शब्द बनाए हैं, किन्तु सस्कृत शब्द-रचना की क्षमता में इन दोनों भाषाओं से कहीं बढ़ी-चढ़ी है। उसकी दो सहस्र धातु, उपसर्ग और प्रत्यय अनन्त सुन्दर शब्दों की रचना कर सकते हैं। संस्कृत का बल लेकर हिन्दी अपने भारी उत्तरदायित्व को सहर्ष वहन करती हुई वैदिक शब्दों में कह सकती है :

गुरुर्भारो लघुर्भव।

देवेन्द्र सत्यार्थी

हिन्दी साहित्य पर लोक-साहित्य का प्रभाव

किसी भी देश का लोक-साहित्य जहाँ जनता की मूर्त चेतना और उसके गतिशील उत्साह, विश्वास तथा संघर्ष का परिचायक होता है, वहाँ वह जनता के आत्म-मुखर जीवन का प्रतीक और मनुष्य की साधारण बोल-चाल की भाषा के अनगढ़पन और सजीवता की विजय-यात्रा की दुंदुभि बजाता हुआ आगे बढ़ता है : इसके हर बोल में अनेक शताब्दियों की संचित अनुभव-राशि, एक-एक शब्द को टटोलती हुई, मनुष्य की बोली की पताका फहराती हुई, सामाजिक प्रयत्नों और उनसे सम्बद्ध मानव-चेतना की अभिव्यक्ति को सीधी-सादी और सरल भाव-धारा का रूप देती हुई जनता के भावी जीवन के लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य करती है। लोक-साहित्य का खरापन बाह्य आडम्बर से बचकर चलता है; मिथ्या अलंकरण इसे एक आँख नहीं भाते। सहजता ही इसकी सबसे बड़ी विशेषता होती है। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि लोक-साहित्य भावना-शून्य रूप से बजने वाले ग्रामोफोन की तरह नहीं होता; उसकी आवाज सीधी जनता के परम्परा-स्रोत से आती है; मानव की बोलती-गाती परम्पराओं की वाणी के रूप में लोक-साहित्य में यह क्षमता होती है कि वह जीवन को उसके समूचे सामंजस्य के साथ देखे और उस पर टिप्पणी करते समय एक ऐसा परामर्श दे जिससे मानव को शताब्दियों के संघर्ष में सफलता प्राप्त हो सके। इसीलिए लोक-साहित्य की स्थिति मात्र साइनबोर्ड की-सी भी नहीं होती : सामाजिक सम्बन्धों से सदैव प्रेरणा प्राप्त करने वाला साहित्य कभी साइनबोर्ड-सी निर्जीव वस्तु नहीं हो सकता। लोक-साहित्य मानव के निरन्तर जीवित रहने की चेतना का प्रतीक है : मानव यदि आत्म-समर्पण करना चाहता है तो जीवन के सत्य के सम्मुख; जिसे वह बार-बार खोजता है, बार-बार परखता है, केवल घिसे-पिटे सिक्के के रूप में नहीं, बल्कि गतिमान मार्ग-दर्शन के रूप में सत्य के प्रति मानव की पहचान ठीक कोण ढूँढने में संलग्न रहती है। परिश्रम के साथ लोक-साहित्य का शताब्दियों का सम्बन्ध है, क्योंकि देश-देश में शत-शत, सहस्र-सहस्र गान विभिन्न धन्धों की गलियों में पनपते हैं और जीवित रहते हैं; माँझी हो चाहे किसान; चरखा कातने वाली स्त्री हो चाहे पनिहारी, मछुआ हो चाहे जुलाहा, चरवाहा हो चाहे धोबी—सभी अपने गान द्वारा परिश्रम के बोझ को हल्का करने की चेष्टा करते नजर आयेंगे। ये गान अखबार की सुर्खियों की तरह उभरते हैं, क्योंकि पुराने बोल समय की नब्ज पहचानने का दायित्व निभाते हैं और इस चेष्टा में कुछ-न-कुछ नूतनता भी अवश्य आ जाती है; नये बोल भी पुरानी लय में खुद ब-खुद ढलते चले जाते हैं। जीवन के देखे-समझे संघर्ष के स्वर निरन्तर लोक-साहित्य को वाणी देते आए हैं; कभी ये स्वर एक व्यंग्य में प्रकट होते हैं, कभी एक अट्टहास में, कभी कोमलता में, कभी एक विवेकशील परामर्श के रूप, में जो भीड़ के भारी-भरकम शोर और चीत्कार से ऊपर उठकर पहले से अधिक सुन्दर और सुखद जीवन की स्थापना में मानव के विश्वास और परिश्रम की सार्थकता सिद्ध करता है।

लोक-साहित्य के अन्तर्गत मौखिक परम्परा का प्रत्येक रूप आ जाता है। लोक-कथाएँ और लोक-गीत, लोकोक्तियाँ और बुझौवल, टोने-टोटके और मन्त्रोच्चार और लोकवार्ता से सम्बद्ध अनेक रूढ़िगत संस्कृति-सूत्र और लोकाचार—सभी मिलकर एक बहुत बड़ा मंच प्रस्तुत करते हैं। लोक-साहित्य के अनेक पात्र भी अध्ययन की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। ये पात्र कल्पित भी हो सकते हैं और ऐतिहासिक भी; जीवन के शान्त प्रवाह मे ऐसे अवसर भी आते हैं जब कुछ लहरे ऊँची उठकर विशेष पात्रो को जन्म देती हैं। ये लहरें कभी सौन्दर्य-चेतना की प्रतीक होती है तो कभी वर्ग-चेतना की परिचायक। अलौकिक शक्तियो के प्रतीक देवी-देवताओं का रूप धारण करके जनता के सम्मुख आते हैं। विभिन्न पात्रो की गाथा सास्कृतिक जय पराजय की गाथा के रूप मे महत्त्व प्राप्त करती है। समय-समय पर विभिन्न संस्कृतियाँ परस्पर टकराकर आदान-प्रदान करने पर मजबूर होती हैं, लोक-साहित्य के पात्रो पर भी विभिन्न संस्कृतियो के संघर्ष से उत्पन्न हुई मिश्रित और संकर संस्कृति की छाप पड़ती है। जीवन-स्रोतस्विनी का कल-कल निनाद इस संकर संस्कृति को भी मानवता के मूल स्वरो द्वारा सजीवता और उर्वरता प्रदान करता है जिसके लिए मानव की सृजन-चेतना सदैव प्रयत्नशील रही है। विभिन्न जन-समूह और वर्ग लोक-साहित्य को जन्म देते हैं और फिर इसकी प्राणदा शक्ति से स्वयं गौरवान्वित होते हैं।

शुद्ध नागरिक साहित्य, लोक-साहित्य से हटकर, अपने लिए पृथक् मार्ग ढूँढता है: देश-देश के साहित्य के जन्म और विकास की गाथा नागरिक-संस्कृति के पद-चिह्नो पर अग्रसर होती है। लोक-साहित्य की भाव-भूमि शुद्ध नागरिक साहित्य को प्रभावित करती है: जनता मूक रहकर नागरिक साहित्य की ओर देखती है, किस प्रकार उसकी सर्वग्राहिणी सामूहिक प्रतिभा शुद्ध नागरिक साहित्यकारो की कृतियो को उनकी शिक्षा और मर्यादा-सिद्ध सास्कृतिक तथा सामाजिक चेतना के रहते हुए भी अपने प्रभाव की परिधि मे खींच लेती है, किस प्रकार जनता इन कवियो और अन्य लेखको के विचारो पर ही नहीं उनकी कृतियो की शैली पर भी अपनी छाप लगाती है—यह एक लम्बी प्रक्रिया है। रवीन्द्रनाथ के कथनानुसार " 'शकुन्तला' और 'कुमार सम्भव' मे कालिदास की लेखनी का कौशल दृष्टिगोचर होता है; पर 'रामायण' और 'महाभारत' हिमालय और गंगा के समान ही, भारत के प्रतीत होते हैं—व्यास और वाल्मीकि तो उपलक्ष्य-मात्र है। इनके पढ़ने से भारत झलकने लगता है, व्यास और वाल्मीकि नहीं।"[1] रामायण और महाभारत के सम्बन्ध मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर फिर कहते हैं: "शताब्दियो-पर-शताब्दियाँ बीतती चली जाती हैं किन्तु 'रामायण' और 'महाभारत' का स्रोत भारत मे नाम को भी शुष्क नहीं होता। प्रतिदिन गाँव-गाँव, घर-घर, उनका पाठ होता रहता है। क्या बाजार की दुकानो पर और क्या राज द्वारो पर सर्वत्र उनका समान भाव से आदर होता है। वे दोनो महाकवि धन्य हैं, जिनके नाम तो काल के महाप्रान्तर में लुप्त हो गए हैं, पर जिनकी वाणी आज भी करोड़ो नर नारियो के द्वार-द्वार पर अपनी निरन्तर प्रवहमान धाराओं से शक्ति और शान्ति पहुँचाती फिरती है और सैकड़ो प्राचीन शताब्दियों की उपजाऊ मिट्टी को प्रतिदिन बहाकर भारत की चित्त-भूमि को उर्वरा बनाए हुए है।"[2]

यह 'शताब्दियों की उपजाऊ मिट्टी' लोक-साहित्य की प्रेरणा से मुक्त नहीं होती: जनता

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 'प्राचीन साहित्य', पृष्ठ २।
२. वही, पृष्ठ ३।

की साधना इस मिट्टी के एक-एक कण मे विद्यमान रहती है, क्योंकि जनता ही देश और काल को वाणी का वरदान देती आई है। शुद्ध नागरिक-साहित्य के निर्माता भाषा की जिस टकसाल से शब्द लेते हैं उसके साथ जनता का सीधा सम्पर्क कम होता जाता है, फिर भी उनकी भाषा से जनता की छाप एकदम मिटती नहीं : लोक-साहित्य के हृदय-कमल की नितान्त उपेक्षा भी तो सहज नही होती, क्योंकि जनता की गौरव-गाथा, जिसकी अभिव्यक्ति लोक-साहित्य मे पग-पग पर सुनने को मिलती है, शुद्ध नागरिक-साहित्य-निर्माताओ को भी बहुत-सी उपयोगी सामग्री प्रदान करती है।

हिन्दी-साहित्य पर लोक साहित्य के प्रभाव का सिहावलोकन करने से पूर्व हमें हिन्दी-साहित्य के जन्म-काल[1] की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का अनुसन्धान करना होगा। हिन्दी-साहित्य का आदिकाल भाषा की दृष्टि से संक्रमण-काल था : लोक-व्यवहार की भाषा, प्राकृत अथवा अपभ्रंश, अपने प्रभाव-क्षेत्र से पद-च्युत हो रही थी और 'देश-भाषा' उसका स्थान ग्रहण कर रही थी। बगला लिपि मे महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्रकाशित 'बौद्ध गान ओ दोहा' से सर्वप्रथम इस युग की रचनाएँ उपलब्ध होती है। यह तो सहज ही कहा जा सकता है कि वज्रयान शाखा के सिद्ध जहाँ संस्कृत मे साहित्य-रचना पर अपना ध्यान केन्द्रित रखते थे, वहाँ वे अपभ्रंश-मिश्रित देश-भाषा मे भी कविता के माध्यम द्वारा अपने विचार प्रदर्शित करते थे। दोहा छन्द उस समय तक केवल लोक-साहित्य की वस्तु रहा होगा : वज्रयान सिद्ध कवियो ने सर्वप्रथम उसे अपनाया और इसे हिन्दी-साहित्य पर लोक साहित्य का सर्वप्रथम प्रभाव माना जा सकता है। इन कवियो की रचनाओ मे दोहो के अतिरिक्त गान की रचना पर लोक-गीत की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। सिद्ध कण्हपा (सम्वत् ६०० के उपरान्त) आह्वान-गान मे डोमिनी को यो सम्बोधित करते हैं :

नगर वाहिरे डोंवी तोहरि कुड़िया छइ
छोइ जाइ सो बाह्म नाड़िया।
आलो डोंबि! तोए सम करिए म साँग।
निघिन कण्ह कपाली जोइ लाग॥
एक सो पदमा चौषट्ठि पाखुड़ी।
तहि चढ़ि नाचअ डोंबी बापुड़ी॥

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार संवत् १०५० से हिन्दी-साहित्य का आरम्भ हुआ, डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल संवत् ६०० से और डॉ० रामकुमार वर्मा संवत् ७०० से ही हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ मानते हैं। वाणभट्ट के 'हर्ष चरित', में अन्यान्य भाषाओं के कवियों के साथ 'भाषा-कवि' का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से भिन्न उस समय जनता की देश-भाषा विद्यमान थी जिसे कुछ कवि अपना माध्यम स्वीकार कर चुके थे। डॉक्टर विनयतोष भट्टाचार्य ने सरहपा का समय संवत् ६६० स्वीकार किया है। वज्रयानी सिद्ध सरहपा की भाषा का निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि इसकी रूप-रेखा आज की हिन्दी का ही आदिकालीन रूप है। सरहपा की रचना का एक उदाहरण लीजिए :

जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहि पवेस।
तहिं वट चित्त विसाम करू, सरेहे कहिअ उवेस॥

हालो डोंबी ! तो पुछमि सदभावे ।
अइससि जासि डोंबी काहरि नावे ॥

वज्रयानियो की विचार-धारा मे एक प्रकार के 'महासुखवाद' का प्रतिपादन मिलता है। उपनिषद् मे ब्रह्मानन्द की तुलना सहवास-सुख से सौगुने सुख से की गई थी, पर वज्रयानी इससे कही आगे बढ़कर निर्वाण-सुख की कल्पना सहवास-सुख मे करने लगे।[1] इसी भावना को लेकर देवताओ और शक्तियो के 'युग्नद्वय' रूप की कल्पना की गई और इस विचार-धारा से प्रभावित मूर्तिकारो ने सहवास की अनेक मुद्राओ मे अनेक नग्न मूर्तियों की सृष्टि कर डाली। वज्रयानी सिद्ध कवि अपनी रचनाओ की भाषा को 'सन्ध्या भाषा' घोषित करते थे।[2] कण्हपा का आह्वान-गान इसी पृष्ठभूमि पर उभरता है। एक स्थल पर यह प्रतिपादित करते हुए कि साधक शून्य मे लीन होकर 'महासुह' (महासुख) प्राप्त करता है, पानी में नमक के विलीन होने की तुलना देते है : 'जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिमि घरणी लइ चित।' वज्रयानियो की 'सन्ध्या भाषा' पर जादू-टोने-तन्त्र का यथेष्ट प्रभाव था और यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि इस भाषा मे 'भइले' और 'बूड़िली' आदि पूरबी शब्द भी मिले हुए थे जो इन कवियो के मगध मे रहने और जनता के निकट सम्पर्क के प्रतीक थे।

वज्रयानी सिद्ध कवियो की भाषा मे लोक-कवियो का-सा प्रवाह है, चाहे वह सरहपा की बानी हो, जो दक्षिण मार्ग छोड़कर वाम मार्ग ग्रहण करने का आदेश देते हैं, चाहे वह ताँतिया की बानी हो, जो लोक-साहित्य के अन्तर्गत पनपने वाली बुझौवल या पहेली की शैली का कला-पूर्ण सम्मिश्रण प्रस्तुत करते हैं :

नाद न बिंदु न रवि न शशि मंडल। चिअराअ सहावे मूकल।
उजु रे उजु छाड़ि या लेहु रे वंक। निअहि बोहि मा जाहु रे लंक॥
—सरहपा : संवत् ६९०

बेंग संसार बाड़हिल जाअ। दुहिल दूध के बेंटे समाअ।
बलद बिआएल गविआ बाँके। पिटा दुहिए एतिना साँझे।
जो सो बुज्झी सो धनि बुधी।
जो सो चोर सोइ साधी।
निते-निते पिआला षिआला षिहे षम जूझअ।
टेंढ पाएर गीत बिरले बूझअ॥
—ताँतिया

वज्रयानी सिद्धो की संख्या चौरासी मानी जाती है। वज्रयानी सिद्ध नागार्जुन (संवत्

१. "रहस्य या गुह्य की प्रवृत्ति बढ़ती गई और 'गुह्य समाज' या 'श्री समाज' स्थान-स्थान पर होने लगे। ऊँचे-नीचे कई वर्णों की स्त्रियों को लेकर मद्य-पान के साथ अनेक वीभत्स विधान वज्रयानियों की साधना के प्रधान अंग थे। सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी स्त्री का (जिसे शक्ति, योगिनी या महामुद्रा कहते थे) योग या सेवन आवश्यक था।" रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ १४।

२. वही पृष्ठ १५।

७०२) ने सिद्ध-परम्परा का परित्याग करते हुए नाथ-सम्प्रदाय का आरम्भ किया। 'गोरक्षा-सिद्धान्त-संग्रह' के अनुसार नाथ-सम्प्रदाय के नौ मार्ग-प्रवर्तक हुए : नागार्जुन, जड भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरखनाथ,[1] चर्पट, जलधर और मलयार्जुन। इस नामावलि मे नागार्जुन के अतिरिक्त गोरखनाथ, चर्पट और जलंधर भी चौरासी वज्रयानी सिद्धो के अन्तर्गत माने जाते है।

लोक साहित्य पर नाथ-सम्प्रदाय के कनफटे जोगियो[2] का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। आज भी गाँव-गाँव घूमकर सारंगी पर गीत गाने वाले जोगी राजा गोपीचन्द के गीत गाते मिलेंगे, जिनकी माता मैनावती को गोरखनाथ की शिष्या के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। उत्तर-प्रदेश मे गोपीचन्द के गीत बहुत लोकप्रिय हैं (बंगाल मे भी, जहाँ गोपीचन्द चाटिगाँव के राजा थे, गोपीचन्द और मैनावती के लोकगीत प्रचलित हैं)।[3] जोगियो के चमत्कार इतने लोकप्रिय हुए कि अनेक लोक-कथाओ मे एक विशिष्ट पात्र के रूप मे जोगी का चरित्र अभिनन्दनीय समझा गया।

पश्चिमी राजस्थानी अपभ्रंश मे जैन-आचार्यों की कृतियो मे दोहा छन्द की प्रतिष्ठा फिर से हमारा ध्यान आकर्षित करती है। हेमचन्द्र ने (संवत् ११५०–१२३०) अपने बृहत् व्याकरण 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' मे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनो भाषाओं को अध्ययन का विषय बनाया है; उन्होने अनेक दोहे प्रस्तुत करते हुए अपभ्रंश की श्री-वृद्धि का प्रमाण दिया है।

हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत दोहो मे से तीन उदाहरण लीजिए :

१. वायसु उड्डावंतिअऍ पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
   अद्धा वलया महिहि गय, अद्धा फुट्ट तड़त्ति॥ ८।४।३५२।
२. जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मुज्झु पिऍण।
   अह भग्गा अम्हहँतणा तो ते मारिआडेण॥ ८।४।३७८।
३. पुत्ते जाऍं कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुऍण।
   जा बप्पीकी भुंहडी चंपिज्जइ अवरेण॥ ८।४।३९५।

ये तीनो दोहे राजस्थान में आज भी प्रचलित हैं; भाषा बदल गई, भाव-भूमि वही रही :

१. काक उडावण धण खडी आयो पीव भड़क्क।

---

१. 'महमूद गज़नवी के भी कुछ पहले सिन्ध और मुलतान में कुछ मुसलमान बस गए थे जिनमें कुछ सूफी भी थे। बहुत से सूफियों ने भारतीय योगियों से प्राणायाम आदि की क्रियाएँ सीखी, इसका उल्लेख मिलता है। अतः गोरखनाथ चाहे विक्रम की १०वीं शताब्दि में हुए हों चाहे १२वीं में, उनका मुसलमानों से परिचित होना अच्छी तरह माना जा सकता है'''उन्होंने अपने पन्थ का प्रचार पंजाब और राजपूताने की ओर किया।" रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ १६

२. कान की लौ में बड़े-बड़े छेद करके दोनों ओर स्फटिक के कुण्डल पहनने की प्रथा नाथ-सम्प्रदाय के जोगियो की विशेषता रही है।

३. पंजाबी साहित्य मे वारिसशाह की सुविख्यात काव्य-कृति 'हीर' में हीर के विवाह के पश्चात् हीर का प्रेमी राँझा गोरखनाथ से जोग लेकर एक जोगी के वेश में हीर की ससुराल में पहुँचता है।

आधी चूनी काग गल आधी गई तड़क्क ॥

२. जो भग्गा पारक्कड़ा तो सखि मुज्झ पियेण ।
जो भग्गा अम्है तणा तो तिह मुज्झ पड़ेण ॥

३. बेटां जायां कवण गुण अवगुण कवणु धियेण ।
जां ऊभां वर आपणी गंजीजै अवरेण ॥

किस प्रकार समय के साथ-साथ लोक-साहित्य की भाषा बदलती रहती है, हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत अन्य अनेक दोहों के वर्तमान राजस्थानी रूप से इसका यथेष्ट परिचय मिलता है।

चन्दवरदाई (संवत् १२२५-१२४९) के 'पृथ्वीराज रासो'[1] के आरम्भ में अग्निकुण्ड से चार क्षत्रिय-कुलों की उत्पत्ति की गाथा पर लोक-वार्ता की छाप दृष्टिगोचर होती है, कवित्त (छप्पय), दोहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या इस महाकाव्य के मुख्य छन्द हैं। जगनिक (संवत् १२३०) के गीत-काव्य 'आल्हा खण्ड'[2] की कोई मूल प्रति किसी पुस्तकालय में सुरक्षित नहीं मिलती; संवत् १९३७ में फर्रुखाबाद के कलेक्टर चार्लस इलियट ने अनेक भाटों की सहायता से इसे लिपिबद्ध कराकर प्रकाशित किया। बैसवाड़ा में आल्हा-गायकों का मेघ-गर्जन बहुत ही लोकप्रिय है; महोबे के समीप बुन्देलखण्ड में भी इसका कुछ कम प्रचलन नहीं, जब वर्षा ऋतु के मेघ-गर्जन में आल्हा-गायक ढोल की थाप पर गा उठते हैं :

बारह बरिस लै कूकर जीएँ, औ तेरह लै जिऐं सियार।
बरिस अठारह छत्री जीऐं, आगे जीवन के धिक्कार ॥[3]

अमीर खुसरो (संवत् १३१०-१३८१) की रचनाएँ शत-प्रतिशत लोक-साहित्य से प्रभावित हैं। हिन्दी के इतिहास में पहली बार एक कवि हमारे सम्मुख आता है जिसमें बोल-चाल की भाषा में काव्य-रचना का साहस नज़र आता है। यह लोक-साहित्य की विजय थी। साहित्यिक रूढ़ियाँ अपनाने की बजाय खुसरो ने वैसी ही पहेलियाँ और दोहे लिखने की कोशिश की जिन्हें जनता का कंठ स्वीकार कर सकता था। 'कह मुकरनी' और 'दो सखुने' की शैली खुसरो के मस्तिष्क की उपज थी, पर जिस जन-सम्पर्क की छाप यहाँ नज़र आती है वह लोक-साहित्य के सीधे प्रभाव का परिणाम है। 'अम्मा, मेरे बाबा को भेजोजी कि सावन आया !'—यह खुसरो के

---

१. "'पृथ्वीराज रासो' ढाई हज़ार पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रन्थ है ··जैसे 'कादम्बरी' के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि उसका पिछला भाग बाण के पुत्र ने पूरा किया है वैसे ही 'रासो' के पिछले भाग का भी चन्द के पुत्र जल्हण द्वारा पूरा किया जाना कहा जाता है।" रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ४७-४८।

२. "यह गाने के लिए ही रचा गया था इससे पंडितों और विद्वानों के हाथ इसकी रक्षा की ओर नहीं बढ़े, जनता ही के बीच इसकी गूँज बनी रही—पर यह गूँज-मात्र है, मूल शब्द नहीं।" वही, पृष्ठ ६३।

३. कालिंजर के राजा परमाल के भाट जगनिक ने महोबा के सुप्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल—के सम्बन्ध में जो गीत-काव्य लिखा, उसकी भाषा इससे कितनी भिन्न रही होगी, यह कहना सहज नहीं। इस गीत-काव्य का मूल रूप देश-काल के अनुसार बदलता चला गया, यहाँ तक कि बन्दूक और किरिच-जैसे नये अस्त्रों और फिरंगी-जैसी जातियों के नाम भी सम्मिलित होते चले गए।

एक गीत की प्रथम पंक्ति है : इसे हू-ब-हू लोक-गीत भी कह सकते हैं, क्योंकि दिल्ली के समीपवर्ती ग्रामों में सावन के बहुत से गीत यही शैली लिये हुए हैं। 'गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस। चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस।'—यह खुसरो का एक दोहा है, जिसकी शैली ग्रामीण जनता में प्रचलित लोक-साहित्य के अन्तर्गत आने वाले दोहों से किसी भी तरह भिन्न नहीं है।

विद्यापति (संवत् १४२५–१५३२) ने घोषणा की :—देसिल बअना सब जन मिट्ठा, ते तैसन जयओ अवहट्ठा' (देश-भाषा सभी को मीठी लगती है, इसलिए वैसा ही अपभ्रंश मैं कहता हूँ)। विद्यापति की पदावली के गीत जयदेव से प्रभावित माने जाते हैं, पर इस शृङ्गार-काव्य पर सर्वग्राहिणी लोक-प्रतिभा की इतनी गहरी छाप है कि वे मैथिल लोक-गीतों के सदृश ही लोकप्रिय हैं, बल्कि इनका प्रसार बंगाल का सीमान्त पार कर गया है।

कबीर (संवत् १४५५–१५५१) की बहुश्रुत प्रतिभा जहाँ दर्शनों, उपनिषदों और शास्त्रों का सार सञ्चित करने में सफल हुई, वहाँ उन्होंने लोक-साहित्य के अनुरूप एक प्रकार की सधुक्कड़ी भाषा में अनेक दोहों की रचना की; उनके पद ब्रज-भाषा और पूरबी में हैं। निर्गुण धारा की इस ज्ञानाश्रयी शाखा के साथ-साथ प्रेममार्गी (सूफी) शाखा का प्रादुर्भाव हुआ और मलिक मुहम्मद जायसी (संवत् १५५०–१६००) का 'पद्मावत' दोहों और चौपाइयों की शैली में अवधी भाषा में लिखा गया। 'पद्मावत' की वर्णन-शैली अनेक स्थलों पर लोक-साहित्य के समीप है, 'सारस पंखि नहिं जिये निरारे, हौं तुम बिन का जियौं पियारे' या 'छोरे केश मोति लट छूटी, जानो रयनि नखत सब छूटी।' फिर गोस्वामी तुलसीदास ने (संवत् १५५४–१६८०) जायसी द्वारा संस्थापित दोहों और चौपाइयों के माध्यम को आगे बढ़ाते हुए 'रामचरित मानस' की रचना की। 'स्याम सुरभि पय बिसद अति करहिं गुणीजन पान, गिरा ग्राम सिय राम जस गावहिं सुनहिं सुजान'[1]—कहकर उन्होंने यह दर्शाने का यत्न किया कि जैसे श्याम सुरभि का दूध व्यापक रूप से गुणी जनों द्वारा पिया जाता है वैसे ही ग्रामीण भाषा में लिखी गई यशोगाथा सुजान मनुष्यों द्वारा गाई और सुनी जाती है। एक और स्थल पर देश-भाषा के माध्यम को हीन भाव से बचाते हुए तुलसीदास को कहना पड़ा :—'का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँचु, काम जु आवे कामरी का लै करै कुमाँचु'। 'रामचरितमानस' में राम-भक्ति को लोक-प्रवृत्तियों के अनुरूप ढाला गया। 'रामललानहछू' की रचना सोहर छन्द में प्रस्तुत करते हुए तुलसीदास ने पुत्र-जन्मोत्सव पर गाँव-गाँव गाये जाने वाले सोहर गीतों के लय-ताल का अभिनन्दन किया; नहछू (संस्कृत नखक्षुर, नाखून काटना) विवाह-समय की एक रीति है जिसके अनुसार यह विधान है कि माता वर को गोद में लेकर उसके नाखून कटवाये। भक्ति-काल के काव्य में सूर (संवत् १५४०–१६२०) ने कृष्ण-चरित्र को अपनाया। मीराबाई (संवत् १५७३–१६०३) ने भी अपने गीतों में इसी पद्य का अनुसरण किया। सूर और मीरा के कृष्ण 'महाभारत' और 'भागवत' के कृष्ण से कहीं अधिक सर्वग्राहिणी लोक-संस्कृति के अनुरूप हैं : मीरा के गीत लोक-गीतों के समान ही गाँव-गाँव घूमने वाले गायकों द्वारा गाये जाते हैं, अनेक स्थलों पर भाषा को भी गायकों ने अपने अनुसार ढाल लिया है।

उत्तर मध्यकाल (संवत् १७००–१६००) के कवि रीति-ग्रन्थों के निर्माण में लोक-पक्ष से दूर हटते गए। बिहारी, देव और मतिराम आदि शृङ्गारिक कवियों ने जहाँ नायिका का नख-शिख

१. 'तुलसी ग्रन्थावली, भाग १, दोहावली, पृष्ठ १०० (नागरी प्रचारिणी संस्करण)

सँवारा वहाँ व्यक्तिगत प्रवृत्तियों पर इतना जोर दिया कि उनकी दृष्टि में 'गँवई गाहक'[1] एकदम बुद्धू बनकर रह गए। इसी काल में वीर रस के कवि भूषण भी लोक साहित्य से तनिक भी प्रेरणा न ले पाए। इस युग का दरबारी कवि जनता से इतना दूर जा पड़ा था कि उसके लिए यह सोचना भी कठिन हो गया कि साहित्य का आदि-स्रोत तो जनता का निरन्तर संघर्षमय जीवन है। रीति-काल के कुछ कवि फिर से भक्ति-काव्य की ओर आकृष्ट हुए, पर इनमे से किसी के यहाँ लोक-पक्ष की प्रेरणा नजर नही आती।

आधुनिक काल मे लोक-साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करने की जो चेष्टा बंगला-साहित्य मे दृष्टिगोचर होती है उसका हिन्दी मे अभाव बहुत खटकता है। रवीन्द्रनाथ टाकुर ने अपने अनेक गान बंगला के लोक-गीतो के आधार पर प्रस्तुत किये, बंगला के बाउल और भाटियाल गान उनके नूतन गीतो के लिए एक नया द्वार खोलने मे समर्थ हुए। गान की भाषा का एक नया ढाँचा खड़ा करने मे उन्हे वह सफलता कभी न मिली होती यदि लोक-संगीत के स्वर उनकी हृदय-वीणा को झंकृत न कर पाते।

हिन्दी का कोई कवि यह दावा नही कर सकता कि लोक-संगीत से प्रेरणा प्राप्त करने की ओर तनिक भी ध्यान नही दिया है: पन्त की 'ग्राम्या' मे कहीं-कहीं लोक-नृत्यों का दृश्य उभरता है; ग्राम-देवता की भर्त्सना और ससुराल जाती ग्रामवधू के आँसू कवि का ध्यान खींचते हैं, पर गाँव का चेहरा शुद्ध नागरिक भाषा के नीचे ढका रहता है। निराला कुछ स्थलो पर गाँव के हृदय को छूने के साथ-साथ लोक-संगीत का अंचल थामते प्रतीत होते हैं। 'कुकुरमुत्ता', 'मँहगू मँहगा रहा' और 'कुत्ता भौंकता रहा' मे जीवन का जो व्यंग्य नज़र आता है, जनता की विवशता और एकदम जाग-कर खड़े हो जाने की प्रवृत्ति निराला को एक जन-कवि के रूप मे हमारे सामने लाती है।

कथा-साहित्य मे चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की सुविख्यात कहानी 'उसने कहा था' मे सर्व-प्रथम लोक-गीतो को महत्त्वपूर्ण सामग्री के रूप मे उपयोग मे लाने की क्षमता नज़र आती है; एक लोक-भाषा के ठेठ शब्द किस प्रकार कहानी का वातावरण तैयार करने मे जुटाये जा सकते है, इसका रहस्य गुलेरी जी की लेखनी खूब समझ पाई थी। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं मे उतना शहर को नही लिया जितना गाँव को: हम देखते हैं कि शहर और गाँव की छूट बहुत-कुछ मिट गई है। वस्तुतः इस युग का शहरी गाँव की महत्ता को समझ रहा है, और गाँव भी जैसे फिर से जाग रहा हो और जीवन की नई उपयोगी वस्तुओं को पाने के लिए उत्सुक हो उठा हो। वृन्दावनलाल वर्मा को भी अपने निकटवर्ती लोक-जीवन से प्रेरणा मिली, यद्यपि इसे लोक-साहित्य की छाप तो नही कह सकते।

आधुनिक युग की एक विशेषता है लोक-साहित्य का संग्रह और अध्ययन।[2] यह आशा

---

१. 'कर लै सूँघि सराहि कै सबै रहै गहि मौन। गन्धी गन्ध गुलाब कौ गँवई गाहक कौन॥' (बिहारी)

२. रामनरेश त्रिपाठी ने इस दिशा में 'कविता कौमुदी' (पाँचवाँ भाग : ग्राम-गीत) के द्वारा पथ-प्रदर्शन किया; सूर्यकरण पारीक, रामइकबाल सिंह 'राकेश', श्यामाचरण दुबे, डॉ० सत्येन्द्र, श्याम परमार और रामनारायण उपाध्याय आदि महानुभावों ने लोक-गीतों के संग्रह और अध्ययन में बहुत कार्य किया है। लोक-कथाओं के संग्रह में शिवसहाय चतुर्वेदी और डॉ० सत्येन्द्र का कार्य महत्त्वपूर्ण है।

की जा सकती है कि इसका प्रभाव हमारे नये लेखकों और कवियों पर अवश्य पड़ेगा। रामनरेश त्रिपाठी ने अनेक लोक-गीत गाँव की झोली से बटोरकर साहित्य के प्रागण में प्रस्तुत किये, पर उस समय तक उनकी काव्य-रचना का समय कदाचित् चुक गया था, नहीं तो यह आशा की जा सकती थी कि वे लोक काव्य से प्रेरणा प्राप्त करके नूतन काव्य की सृष्टि करते; रामइकबालसिंह 'राकेश' भी कवि के अतिरिक्त लोक-गीत-संग्रहकर्ता है, पर उनकी कविता पर लोक-काव्य की छाप कहीं नजर नहीं आती। कवि को जहाँ भी नये स्वर नजर आयें उन्हें साहित्य के प्रागण में लाना उसका दायित्व होना चाहिए। साहित्य में लोक-कंठ और खेत की मिट्टी को उचित स्थान मिलना चाहिए। ज्यों-ज्यों साहित्य में मानव-जय का शंखनाद होगा, लोक-साहित्य की मानवतावादी आवाज का अधिक-से अधिक स्वागत होगा। इस दृष्टि से ठाकुरप्रसादसिंह का प्रयत्न स्तुत्य है: सन्थाल लोक-गीतों को उनके स्वर और लय के साथ हिन्दी रूपान्तर में प्रस्तुत करने की चेष्टा एक स्वस्थ प्रवृत्ति की सूचक है। उनका सन्थाल-गीत लीजिए :

पाँच जोड़ बंसरी
वासन्ती रात के विह्वल पल आखरी
पर्वत के पार से बजाते तुम बन्सरी
पाँच जोड़ बंसरी
वंशी स्वर घुमड़-घुमड़ रो रहा
जी है उठ चलने को हो रहा
धीरज की गाँठ खुली लो, लेकिन
आधे आँचल पर पिय सो रहा
मन पागल तोड़ रहा पंसरी
पाँच जोड़ बंसरी
पर्वत के पार से बजाते तुम बंसरी
वासन्ती रात के विह्वल पल आखरी
पाँच जोड़ बंसरी !

आधुनिक हिन्दी-कवियों में रामविलास शर्मा 'तार सप्तक' में उद्धृत कविताओं द्वारा कहीं-कहीं लोक-जीवन से निकटतम सम्पर्क स्थापित करने में सफल हुए हैं। केदारनाथ अग्रवाल 'युग की गंगा' में 'हवा हूँ हवा मैं वसन्ती हवा हूँ' कहते हुए आगे बढ़ते हैं : 'उतर कर भगी मैं हरे खेत पहुँची, वहाँ गेहुँओं में लहर खूब मारी'—यों वसन्ती हवा अपनी गाथा सुनाती है, जैसे यह उसी वसन्ती रात की हवा हो जब सन्थाल लोक-गीत वसन्त-गान बन उठता है। त्रिलोचन की 'धरती' की घोषणा भी कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं : 'तारकों की ज्योति चलकर भूमितल पर, आ रही है आ रही है आ रही है!' 'धरती' के पश्चात् त्रिलोचन के कुछ सानेट भी लोक जीवन में साँस लेते हैं। नागार्जुन की 'धरती' शीर्षक कविता में जैसे स्वयं धरती अपने मुँह से बोलकर अपनी गाथा सुनाती है। गिरिजाकुमार माथुर और भवानीप्रसाद मिश्र की कुछ कविताओं में भी लोक-गीत की-सी माटी की सोंधी-सोंधी सुगन्ध मिलती है। यह देखकर हर्ष होता है कि जन-बोलियों में साहित्य-निर्माण की प्रेरणा भी हमारे कुछ कवियों को छू गई है : इस दिशा में बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस', वंशीधर शुक्ल, चन्द्रभूषण त्रिवेदी और मेघराज 'मुकुल' की कुछ रचनाएँ विशेष रूप से

उल्लेखनीय हैं।

नये कवियों में धर्मवीर भारती, शमशेरबहादुर सिंह और नरेशकुमार मेहता के प्रयत्न उल्लेखनीय हैं। उनके प्रयोग कहीं-कहीं लोक-पक्ष को लेकर चलते हैं और यों लगता है कि लोक-जीवन को एक नया कंठ मिल गया है।

कथा-साहित्य और उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द के बाद लोक-पक्ष का उतना हाथ नज़र नहीं आता : इसका सबसे बड़ा कारण है नागरिक जीवन की भूल-भुलैयाँ में साहित्यकार का खो जाना। आधुनिक बंगला-साहित्य में ताराशंकर बन्द्योपाध्याय गाँव का अंचल थामकर ही पग उठाते नज़र आते हैं; पर हमारे अधिकांश कहानी-लेखक और उपन्यासकार जैसे गाँव का रास्ता ही भूल गए हों।

लोक-पक्ष और लोक-साहित्य की शक्तियों से ज्यों-ज्यों हमारे कवि और लेखक परिचित होते जायँगे उनके साहित्यिक प्रयत्नों को लोक-परम्पराओं और जनता की आगे बढ़ती हुई शक्तियों से सदैव एक नई प्रेरणा मिलेगी, इसमें तो सन्देह की रत्ती-भर गुञ्जाइश नहीं। लोक-साहित्य में सदैव मानव के संघर्ष का प्रतिनिधित्व उभरा है : मानव की परख, क्षणिक को छोड़कर स्थायी को पकड़ में लेने का उसका निरन्तर प्रयत्न, सामाजिक शक्तियों का साथ देने की उसकी प्रवृत्ति, इतिहास के पहियों को तेज़-तेज़ घुमाने की उसकी परम्परा—यह सब लोक-साहित्य की चिरन्तन थाती है। इसके प्रति आधुनिक साहित्यकार का क्या दायित्व है, इस प्रेरणा-स्रोत से वह क्या ले सकता है और इसे लेकर किस नूतन रूप में अपने वक्तव्य और कृतित्व का माध्यम बना सकता है, इसकी कुछ चिन्ता तो साहित्यकार को होनी ही चाहिए।



रामअवध द्विवेदी

यूरोपीय साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

कई विचारको का मत है, कि भक्तिकालीन हिन्दी-कविता का उद्गम जातीय अधःपतन तथा हताश जनता की नैराश्य भावना मे था। यह मानना कठिन प्रतीत होता है कि आस्था और तन्मयता से ओत-प्रोत कबीर से लेकर सूरदास तक का भक्ति-काव्य हार तथा विदेशी शासको के दुर्व्यवहार के कारण ही उत्पन्न हुआ था। ईश्वर के प्रति जो सहज प्रेम तथा आध्यात्मिक सत्ता के प्रति जो स्वाभाविक खिचाव उसमे विद्यमान है उसके मूल्याकन के लिए हमे दूसरे ही तथ्यो की खोज करनी पडेगी। वेदों के काल से लेकर वैष्णव भक्तो के युग तक आध्यात्मिकता का जो अविरल स्रोत भारतीय जीवन और साहित्य मे निरन्तर बहता हुआ मिलता है उसे हम कैसे भुला सकते है।

कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की भक्ति केवल निराशा-जनित नहीं है, क्योकि उसमे गम्भीर आध्यात्मिक अनुभव और असाधारण तन्मयता का अनुपम मेल मिलता है। भक्ति और काव्य दोनो की दृष्टि से इन सन्तो का युग अत्यन्त समृद्धि का काल था और इसीलिए भक्ति-काल को हम अपने साहित्य के इतिहास मे गौरव का काल मानते हैं। भक्ति-काल का यह महत्त्व प्रायः सभी स्वीकार करते हैं, और इस सम्बन्ध मे मतभेद की गुञ्जाइश भी बहुत कम है। १७वी शताब्दी ई० के लगभग भक्ति-काल का साहित्यिक वैभव प्रायः लुप्त हो चुका था। १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही हिन्दी-काव्य ने एक नया ढंग पकड़ा। भक्ति के स्थान पर शृङ्गार का आधिपत्य स्थापित हुआ, और काव्य अपनी स्वाभाविकता खोकर रूढ़िग्रस्त हो गया। इस ढर्रे की कविता मे कुछ इनी-गिनी बातें एक बँधे हुए ढंग से कही जाती थीं और मौलिकता का प्रायः पूर्ण अभाव ही था। कविता जनसाधारण के आनन्द और उन्नयन का साधन न रहकर दरबार की वस्तु बन गई। कवि का स्थान दरबारी गवैयो, नाचने वालो तथा चाटुकारो के समकक्ष हो गया। काव्य की परिधि सकुचित हो गई और उसका प्रभाव जीवन की गहराई तक पहुँचने मे असमर्थ था। यह सोचकर क्षोभ होता है कि मतिराम, बिहारी, देव, पद्माकर-ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न महाकवि अपने युग की परिस्थितियो के कारण यथोचित महानता न प्राप्त कर सके। १८वीं शताब्दी ई० और १९वी शताब्दी के प्रायः पहले ७० वर्षों मे पतन का यह क्रम अबाध गति से चलता रहा। हिन्दी-साहित्य की इसी चरम अधोगति के समय १९वी शताब्दी मे यूरोपीय साहित्यिक प्रभाव का आगमन सर्वप्रथम हुआ। यदि किसी अन्य काल मे यह विदेशी प्रभाव इस देश मे आया होता तो उसकी सफलता इतनी सरलता और शीघ्रता से न होती, क्योंकि उसे हमारे बद्धमूल संस्कारो से लोहा लेना पड़ता, किन्तु १९वीं शताब्दी मे उसके लिए रास्ता साफ था।

पोर्चगीज, डच, फ्रासीसी तथा अँग्रेज सभी इस देश मे व्यापार के सिलसिले से आये। आपस के संघर्ष मे अँग्रेज विजयी हुए और उन्होने धीरे-धीरे अपना राज्य इस देश मे स्थापित

किया। अतएव अँग्रेजो से ही भारतीयो ने मुख्यतया पाश्चात्य जीवन का नया आदर्श प्राप्त किया और भारतीय साहित्य पर बहुत दिनो तक बहुत कुछ अँग्रेजी साहित्य का ही प्रभाव पड़ता रहा। बंगला, मराठी और गुजराती से अँग्रेजी साहित्य का निकट सम्पर्क लगभग १९वीं शताब्दी के मध्य से प्रारम्भ हुआ और फलतः इन भाषाओं के साहित्यों मे नवीन विशेषताएँ आने लगी। हिन्दी और अँग्रेजी का सम्पर्क कुछ विलम्ब से प्रारम्भ हुआ और इसका वास्तविक स्वरूप प्रायः १८७० के बाद ही दिखाई पड़ा। तब भी पाश्चात्य प्रभाव कई बातों मे इसके पहले से ही परिलक्षित हो रहा था। अँग्रेजी शिक्षा का प्रचार सन् १८३४ ई० के बाद लगातार बढ़ता ही गया और अँग्रेजी की जानकारी के साथ-साथ अँग्रेजी-साहित्य से परिचय प्राप्त करना स्वाभाविक ही था। ईसाई मिशन के पादरियो ने कलकत्ता, आगरा, मिर्जापुर, बनारस तथा अन्य स्थानों पर छापेखाने खोले, जिनमे उन्होने बाइबिल के गद्यानुवाद के सस्ते संस्करण छापकर उन्हे जनता तक पहुँचाया। उन्होने स्कूली किताबे भी छापी और इस प्रकार नवीन शिक्षा के विस्तार मे बहुत बड़ी सहायता पहुँचाई। हिन्दी-गद्य के उद्भव और विकास का बहुत-कुछ श्रेय अँग्रेज पादरियों को है। अँग्रेजी गद्य से परिचित थे,और इसलिए भारतीय भाषाओं मे गद्य का अभाव उन्हे खटकता था। इस कमी की पूर्ति के लिए तथा राजकीय कार्य और धर्म-प्रचार के सुभीते के लिए भी उन्होने अपने प्रयत्न से बंगाली, मराठी, गुजराती तथा हिन्दी-गद्य के विकास मे पूर्ण योग दिया। हिन्दी-गद्य के विकास का इतिहास लिखते समय हम खुसरो और रामप्रसाद निरंजनी का नाम गर्व से लिखते हैं, किन्तु यह मानने मे संकोच न होना चाहिए कि अँग्रेजी गद्य के प्रभाव बिना हिन्दी-गद्य का जो विकास आज दिखाई पड़ता है वह संभव न था। प्रारम्भ से आज तक पग-पग पर हिन्दी-गद्य ने अँग्रेजी गद्य के आदर्श को स्वीकार किया है और जब कभी कुछ विद्वानो ने उस आदर्श से विमुख होकर प्राचीन संस्कृत-गद्य का उदाहरण अपने सामने रखा और उसका अनुकरण करने का प्रयत्न किया है, तब भाषा पंडिताऊ और दुरूह बनकर रह गई और उसकी सफाई नष्ट हो गई है।

प्रारम्भिक अवस्था मे अंग्रेजी-साहित्य का प्रभाव किस प्रकार पड़ा इसका अनुमान हम बहुत-कुछ भारतेन्दु युग की कृतियो से कर सकते हैं। पहली मानसिक प्रतिक्रिया सम्मान तथा अनुसरण की थी। शेक्सपीयर, मिल्टन तथा १९ वीं शताब्दी के रोमांटिक कवियो और उपन्यासकारो के प्रति लोगो के मन मे आदर का भाव था और उनकी कृतियो का अनुवाद अनेक यशस्वी लेखकों ने किया। भारतेन्दु ने 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' का अनुवाद किया और बाबू श्रीनिवासदास ने 'रोमियो और जूलियट' का रूपान्तर 'रणधीर और प्रेममोहिनी' के रूप मे प्रस्तुत किया। बाबू काशीनाथ खत्री ने 'लैम्ब' की कहानियो का और जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ ने 'रोमियो जूलियट' 'एज यू लाइक इट' और 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' के सुन्दर अनुवाद उपस्थित किए। इसी प्रकार और भी कई अनुवाद हुए। अंग्रेजी परिपाटी के ग्रहण करके हिन्दी-लेखकों व कवियो ने गद्य और पद्य मे निबन्ध लिखे। गद्य-निबन्धों की दृष्टि से भारतेन्दु युग काफी भरा-पूरा है। इन निबन्धो के नमूने की कोई चीज हमारे पुराने साहित्य मे नही मिलती। पद्य मे लिखे हुए निबन्धो से अभिप्राय है उन पद्यबद्ध कृतियो से जिनमे किसी एक विषय का वर्णन अथवा प्रतिपादन किया गया है। भारतेन्दु युग के कवियो ने पैराग्राफो मे कविता लिखने की कला कदाचित्

मिलटन अथवा १८ वी शताब्दी के अँग्रेजी कवियो से सीखी थी। रोमाण्टिक कवियो का प्रभाव तीन प्रकार से लक्षित होता है। रोमाण्टिक कविता मे प्रेम का विशेष महत्त्व है, चाहे वह स्त्री-पुरुष का प्रेम हो अथवा प्रकृति-प्रेम या देश-प्रेम। भारतेन्दु प्रवीण प्रेमी थे और उनकी कविता मे प्रेम का विशेष महत्त्व है। उन्होने जिस प्रेम का वर्णन किया है, उसमे तीव्रता और विह्लता है केवल मतिराम अथवा बिहारी की कविता मे वर्णित नायक-नायिकाओ की लुका-छिपी नहीं। प्रकृति-प्रेम का एक नया नमूना ठा० जगमोहन सिह की कविता मे मिलता है। प्रकृति का कार्य केवल कामोद्दीपन नहीं रह गया वरन् उसकी रमणीयता अब स्वतः हृदय मे आनन्द उत्पन्न करने की क्षमता रखती है। प्रकृति का यह सीधा प्रभाव हमे अनायास अँग्रेजी के रोमाण्टिक कवियो की याद दिलाता है। तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु युग मे सर्वप्रथम अँग्रेजी साहित्य की कतिपय विशेषताओ का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव पडा और अनुवादो द्वारा हिंदी-भाषी जनता का सम्पर्क - अंग्रेजी-साहित्य से बढने लगा। साथ ही अँग्रेजी से बढ़ने लगा। साथ ही अँग्रेजी-शिक्षा का प्रसार भी बढ रहा था और दिन-पर-दिन स्कूलो और कालेजो मे नवयुवक अँग्रेजी-साहित्य के अधिकाधिक निकट आ रहे थे।

बीसवी शताब्दी के पहले २० वर्षों मे अर्थात् द्विवेदी युग मे अँग्रेजी पुस्तको के अनुवाद का क्रम जारी रहा। बहुत से रास्ते अंग्रेजी-उपन्यास अनूदित हुए। पंडित श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली कविता मे गोल्डस्मिथ लिखित 'द डिजर्टेड विलेज' तथा 'द ट्रैवलर' का अनुवाद किया। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने Becon के निबन्धो के अनुवाद का कठिन कार्य सफलतापूर्वक सम्पादित किया, और पं० अयोध्यासिह उपाध्याय ने शेक्सपियर के The Merchant of Venice का अनुवाद 'वेनिस का बाँका' नाम से प्रस्तुत किया। इन प्रयासो से अँग्रेजी की बढ़ती हुई लोकप्रियता सिद्ध होती है किन्तु इस काल मे अँग्रेजी का प्रभाव सबसे अधिक स्पष्ट रूप से गद्य के विकास मे देखा जा सकता है। शब्दो के चयन और वाक्यो के निर्माण तथा भाषा-शैली के विकास मे समान रूप से अँग्रेजी का प्रभाव लक्षित होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अँग्रेजी-गद्य के नमूने सामने रखकर ही आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-गद्य का रूप निर्धारित किया। उनकी अपनी भाषा की सफाई और सादगी बिलकुल तत्कालीन अँग्रेजी-गद्य के ढंग की है। अँग्रेजी के इस बढते हुए महत्त्व और प्रभाव को देखकर कुछ हिन्दी-लेखक सहम उठे और उन्होंने प्राचीन भारतीय परिपाटी की महत्ता सिद्ध करने लिए प्रयत्न किया। गद्य के क्षेत्र मे पं० गोविन्दनरायण मिश्र प्रभृत संस्कृतज्ञो ने प्राचीन सस्कृत-गद्य-शैली को अपनाने की ठानी और अनेक लोगो ने संस्कृत काव्य ग्रन्थो के गद्य और पद्य अनुवाद हिन्दी मे किये जिनमे पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी-कृत 'कुमार सम्भव' का अनुवाद तथा कविरत्न सत्यनारायण-कृत 'उत्तर रामचरित' एवं 'मालती माधव' के अनुवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि २० वी शताब्दी के प्रथम २० वर्षों मे एक ओर तो हिन्दी-लेखको द्वारा अंग्रेजी-साहित्य के प्रभाव का स्वागत किया जा रहा था और दूसरी ओर उसके विरोध मे प्राचीन संस्कृत-साहित्य का आह्वान। अँग्रेजी-साहित्य के विरुद्ध इसी प्रकार की प्रतिक्रिया अधिक जोरदार ढग से मराठी साहित्य मे हुई थी जब कि प्राचीन परिपाटी के हिमायतियो ने सस्कृत-साहित्य का सहारा लेकर अंग्रेजी-साहित्य के बढते हुए प्रभाव को रोकने के लिए भगीरथ प्रयत्न किया था। हिन्दी मे विरोध की भावना उतना प्रबल रूप धारण न कर पाई और फलतः प्राच्य और पाश्चात्य प्रभाव साथ-साथ सक्रिय रहे।

कहीं-कहीं दोनो के मेल-जोल का दृश्य भी दिखाई पडता है। उदाहरणार्थ 'प्रिय-प्रवास' की राधा के चित्रण मे और कविरत्न सत्यनारायण के भ्रमरदूत मे नवीनता का पुट साफ-साफ दिखाई पडता है।

सन् १६२० के उपरान्त आने वाले पन्द्रह वर्षों को हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारो ने छायावाद युग का नाम दिया है। ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ष थे। गद्य और पद्य-कृतियो द्वारा अनेक प्रतिभावान लेखको ने इस काल को समृद्ध बनाया। यूरोपीय साहित्य तथा हिन्दी-साहित्य के सम्पर्क की दृष्टि से भी यह काल विशेष महत्त्व रखता है। इसके पूर्व यूरोपीय तथा भारतीय साहित्यिक परम्पराएँ एक-दूसरे के निकट आने पर भी आपस मे हिल-मिल नहीं पाई थीं। उनमे आपस मे मिलने की प्रवृत्ति अवश्य थी किन्तु साथ ही छिपी हुई संशय और विरोध की भावना भी थी। प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के कारण भारतीय जनता का परिचय यूरोप से अधिक गहरा हो गया। अँग्रेजी उच्च-शिक्षा का प्रचार भी अब तेजी से हो रहा था और अँग्रेजी साहित्य के ज्ञान के साथ-ही-साथ उसके प्रति आकर्षण भी उत्पन्न हो रहा था। इस सम्बन्ध मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य के आदर्श का उल्लेख कर देना भी अत्यन्त आवश्यक है। महाकवि द्वारा १६०० और १६१५ के बीच मे लिखी हुई कविता मे भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों का चमत्कारपूर्ण समन्वय है। भारतीय दर्शन के सिद्धान्त तथा यूरोपीय रोमाण्टिक और प्रतीकवादी कवियो के प्रभाव घुल-मिलकर एक हो गए हैं और अपनी कवित्व-शक्ति द्वारा महाकवि ने उनको एक अत्यन्त मनोमुग्धकारी स्वरूप दे दिया है। छायावादी कवियो के सम्मुख यह उदाहरण विद्यमान था और इससे वे बहुत प्रभावित हुए। फल यह हुआ कि छायावाद की कविता मे भारतीय और यूरोपीय प्रभावो का ऐसा एकीकरण हुआ जैसा इसके पूर्व न हो पाया था। प्रसाद प्राचीन भारतीय-संस्कृति के बहुत बड़े समर्थक थे। पंत क्रमशः रामतीर्थ, विवेकानन्द, गान्धी और अरविन्द के अनुयायी रहे है तथा उपनिषदो मे प्रतिपादित तथ्यो मे उनका अमिट विश्वास है। निराला पर वेदान्त और वैष्णव भक्तो की कविता का प्रभाव पडा है और महादेवी की कविता की तह मे सूफियो का मत, बौद्ध-दर्शन, उपनिषदो के सिद्धान्त सभी किसी-न-किसी अंश मे मौजूद हैं। यह तो हुई भावो और विचारो की बात किन्तु जब हम छायावादी कविता के बाह्य स्वरूप पर विचार करते है तब हमे हिंदी-साहित्य के प्रगीत-मुक्तको के इस स्वर्ण युग मे और १६वीं शताब्दी की यूरोपीय रोमाण्टिक कविता मे न केवल साम्य किन्तु परस्पर सम्बन्ध साफ साफ दिखाई देता है। छायावादी कविता का अध्ययन करते हुए कभी Wordsworth की तो कभी Shelley या Keats की आवाज सुनाई पडती है। कतिपय स्थलो पर साम्य इतना अधिक है कि अनुकरण का सन्देह होने लगता है। प्रतीको का प्रचुर प्रयोग मिलता है। हम यह तो नही कह सकते कि फ्रास के प्रतीकवादियो का सीधा प्रभाव छायावाद तक पहुँच पाया था किन्तु रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव तो स्पष्ट है और रवीन्द्रनाथ स्वयं यूरोपीय प्रतीकवादियो से प्रभावित हुए थे इसमे तनिक भी सन्देह नही। Poe और Watt Whitman एक प्रकार से फ्रासीसी प्रतीकवादियो के गुरु थे और इन दोनों अमेरिकन लेखको की कृतियो का प्रचलन इस देश मे काफी अरसे से है।

प्रेमचन्द के उपन्यासो और उनकी कहानियो मे भी भारतीय और पाश्चात्य प्रभाव का एकीकरण मिलता है। विचार और आदर्श पूर्णरूपेण भारतीय हैं, किन्तु टेकनीक पाश्चात्य है। प्रेमचन्द का मानवतावाद भी उस यूरोपीय मानवतावाद से मिलता-जुलता है जो Balzac के

समय से प्रेमचन्द के काल तक यूरोपीय कथा-साहित्य मे स्थान-स्थान पर मिलता है। हिन्दी-साहित्य को प्रेमचन्द की सबसे बडी देन यह है कि उन्होने सर्वप्रथम पाश्चात्य परिपाटी पर सफलता पूर्वक हिन्दी-कहानियो और उपन्यासो का निर्माण किया। इसी काल मे जैनेन्द्रकुमार ने मनो-विज्ञान का हिन्दी कथा-साहित्य में समावेश किया। १६वी और २० शताब्दी मे यूरोप मे मनो-विज्ञान ने वड़ी उन्नति की और साहित्य से उसका सम्बन्ध अधिकाधिक निकट होता गया है। कभी-कभी तो मनोविज्ञान साहित्य पर इतना छा जाता है कि वात खटकने लगती है। यही प्रभाव जैनेन्द्रकुमार की कहानियो मे सर्वप्रथम प्रकट हुआ। नाटको के क्षेत्र मे भी पाश्चात्य निर्माण-पद्धति स्वीकार की गई। एक विद्वान् ने बाबू जयशंकरप्रसाद-कृत 'अजात शत्रु' की भूमिका मे अन्तर्द्वन्द और बहिर्द्वन्द को महत्त्व देते हुए यह मान लिया है कि उनके विना नाटक का अस्तित्व सम्भव ही नही है। इस प्रकार के विचार पाश्चात्य प्रभाव के द्योतक है। हमे द्विजेन्द्रलाल राय का स्मरण हो आता है, क्योकि उनका नाट्य-शास्त्र का विवेचन केवल शेक्सपियर के नाटको के आधार पर किया गया है। प० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'शा' और 'इब्सन' का अनुसरण करके नये ढंग के नाटक लिखे। हिन्दी की नवीन आलोचना भी यूरोपीय आलोचना को आदर्श मानकर आगे बढ़ने लगी और व्याख्या तथा खंडन-मंडन का ढंग छोड़कर विचारो के विवेचन मे सलग्न हो गई।

छायावाद काल का साहित्यिक समन्वय उस युग का भारतीय और पाश्चात्य प्रभावो का एकीकरण बहुत दिनो तक कायम न रह सका। १६३५ ई० के लगभग परिवर्तन के चिह्न दिखाई पडने लगे। इस समय तक देश मे उच्च अँग्रेजी शिक्षा-प्राप्त जनो का एक खासा बड़ा समुदाय बन चुका था। प्रथम महायुद्ध के काल से ही भारतीयो का ध्यान इंग्लैड से हटकर समस्त यूरोपीय राजनीति और साहित्य की ओर आकृष्ट हो चला था। भारतीय जनता के मानसिक क्षितिज के विस्तार ने विश्वविद्यालयो की शिक्षा, समाचार-पत्रो, रेडियो इत्यादि ने योग दिया। साथ-ही-साथ यूरोप मे दो-एक नवीन विचार-पद्धतियाँ तेजी से ग्रहण की जा रही थी। मार्क्स का नवीन दर्शन, जिसमे जड़वाद ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विचार तथा दलित जनवर्ग के प्रति सहानुभूति का सम्मिश्रण है, यूरोप के विशिष्ट भागो मे अपना घर बना रहा था। यह नवीन परिपाटी इस देश मे आई और अनेक कार्यों से पढ़े-लिखे नवयुवकों ने इसका स्वागत किया। हिन्दी-साहित्य भी इससे प्रभावित होने लगा। १६वी शताब्दी के प्रारम्भ से ही मनोविज्ञान का महत्त्व यूरोप मे बढ़ रहा था। वर्तमान सदी मे मनोविश्लेषण के आचार्यों ने अर्द्धचेतन और अचेतन मन का अध्ययन प्रारम्भ किया और इस प्रकार साहित्य के लिए एक नया क्षेत्र उपलब्ध कर दिया। हिन्दी-साहित्य पर मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण का प्रभाव भी १६३५ ई० के उपरान्त पड़ने लगा। भारतीय काव्य मे प्रतीको का प्रयोग बहुत पहले से होता आया है। कबीर तथा सूफी कवियो की कविता मे प्रतीक भरे पड़े है तथा रवीन्द्रनाथ टाकुर की कविता मे प्रतीको का सुन्दर तथा प्रचुर प्रयोग हुआ है। पिछले २० वर्षों मे लिखी जाने वाली हिन्दी प्रतीकवादी कविता मे केवल प्राचीन परम्परा का निर्वाह नहीं है. उसका प्रतीकत्व साफ-साफ यूरोप के १६वीं और २०वीं शताब्दी के प्रतीकवादियो से प्रभावित है। उसकी अस्पष्टता और उसका अटपटापन बहुत-कुछ फ्रासीसी प्रतीक-वादियो तथा T. S Eliot का स्मरण दिलाता है। हिन्दी प्रतीकवाद को सबसे बडा सहारा रवीन्द्रनाथ टाकुर, T. S. Eliot तथा Yeats की कविता से मिला है, यद्यपि दो-एक आधुनिक

कवि फ्रासीसी प्रतीकवादियो की कविता से परिचित हैं और कदाचित् उनका अनुकरण भी करते हैं। मनोविश्लेषण की खोजो से भी प्रतीकवाद को बल मिला है। कभी-कभी उपरोक्त प्रभाव मार्क्सवाद, मनोविश्लेषण के सिद्धान्त, तथा प्रतीकवाद सभी एकत्र होकर एक ही साहित्यकार की कृतियो मे देखने को मिल जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न प्रभावो का मिश्रण यूरोपीय Surrealists की याद दिलाता है। इसी भॉति कुछ कवियो की रचनाओ मे वेदना-तत्त्व तथा निराशा का आधिक्य बहुत-कुछ यूरोपीय अस्तित्ववादियो अर्थात् Existentalists का सीधा प्रभाव हमारे साहित्य पर पडा है या नही।

अभिव्यजनावाद के सम्बन्ध मे हिन्दी मे कई आलोचनापूर्ण निबन्ध लिखे गए हैं। इनमे से कुछ तो विवेचना और तुलना के अभिप्राय से लिखे गए हैं और कुछ ध्वंसात्मक हैं, किन्तु हिन्दी के रचनात्मक साहित्य पर अभिव्यजनावाद की छाप नहीं मिलती। इस समय स्थिति यह है कि हमारे साहित्य का संतुलन नष्ट हो गया है। १६३५ ई० के उपरान्त यूरोपीय प्रभाव हमारे साहित्य मे अनेक रूपो मे इतनी द्रुतगति से प्रविष्ट हुआ कि वह सम्यक् प्रकार से आत्मसात् नही हो सका है। हमारे आभार का बोझ इतना अधिक है कि हिन्दी-साहित्य उसे आसानी से सॅभाल नही पा रहा है। अतएव उसके कन्धे कुछ झुक गए है और पग लड़खड़ा रहे हैं। यह बात हम भर्त्सना अथवा कटु आलोचना के उद्देश्य से नही लिख रहे हैं। निष्पक्ष भाव से देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्यिक व्यवस्था इस समय अत्यन्त अनिश्चित अवस्था मे है। छायावाद के समान कोई आन्दोलन आज विस्तृत प्रभाव नही रखता। प्रयोगवाद तो विभिन्न मतो तथा शैलियो के कवियो का एक जमघट-मात्र है। किसी साहित्यिक आन्दोलन की रूप रेखा निर्धारित करने के लिए यह कह देना पर्याप्त नही है कि उसके सभी अनुयायी अन्वेषक है, राह के साथी हैं। यह भी वाञ्छनीय है कि उन राहगीरो के विचारो और भावनाओ मे गहरा साम्य हो तथा उनकी रचना-प्रणाली मे भी समानता हो। आज के हिन्दी-साहित्य मे नवीनता का चमत्कार है तथा अन्वेषण और प्रयोग की भावना भी है, किन्तु उसकी रूपरेखा अनिश्चित है और इसका कारण बहुत कुछ यूरोपीय साहित्यिक तथा दार्शनिक प्रभाव का प्रबल आघात है।

यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दी के आधुनिक लेखको और कवियो मे कौन किस यूरोपीय साहित्यिक परम्परा से प्रभावित हुआ है। यह तो सभी जानते है कि अज्ञेय पर मनोविश्लेषण और प्रतीकवाद का प्रभाव है। यशपाल और अश्क, नागार्जुन, भारतभूषण अग्रवाल इत्यादि प्रगतिवादी हैं। अश्क, प्रभाकर माचवे इत्यादि पर फ्रायड का प्रभाव है। इसी प्रकार सूची तैयार की जा सकती है, किन्तु इसकी विशेष आवश्यकता नही है क्योकि यह हिन्दी के पाठको के लिए रोज की जानकारी की बातें हैं। इसके अतिरिक्त वर्तमान कवियो और लेखको की कृतियो का मूल्याकन कठिन है और यह कार्य ठीक-ठीक दस-पाँच वर्ष के बाद ही हो सकेगा।

हिन्दी के कई लब्धप्रतिष्ठ आलोचको ने यूरोपीय 'वादो' के प्रति अपनी अरुचि तथा अपना अविश्वास प्रकट किया है। यहाँ तक कि आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' मे कई स्थलो पर यूरोपीय प्रभाव के ग्रहण करने का विरोध किया है। इन आलोचको की धारणा यह है कि पाश्चात्य प्रभाव स्वीकार करने से हमारा आत्मसम्मान नष्ट तथा साहित्य का स्वरूप विकृत होता है। इसके विपरीत C E Montague महोदय का यह कथन देखिए:—If a language would live, it must eat, & the English language, in all

its times of best health, has been a good feeder if not a gross one" किसी भी जीवित भाषा या साहित्य को पोषक तथा शक्तिवर्द्धक तत्वों के ग्रहण करने में सकोच नहीं होना चाहिए। अँग्रेजी साहित्य और उससे भी अधिक आज के अमेरिकन साहित्य की शक्ति और समृद्धि का बहुत बडा कारण यह है कि उनमें उच्च कोटि की ग्राहिका शक्ति है। अतएव यूरोपीय वादों से हिन्दी को तब तक कोई खतरा नहीं है। जब तक हम समझदारी के साथ अपने विशेष वातावरण और परिस्थितियों को देखते हुए उनका उपयोग करेंगे। कोरा अनुकरण तो अवश्य निरर्थक और हानिकर सिद्ध होगा।



विनयमोहन शर्मा

छायावादी कवियों का आलोचनात्मक दृष्टिकोण

प्रथम महायुद्ध के बाद हिन्दी-साहित्य में नूतन चेतना का उदय हुआ। इसलिए नहीं कि उस पर 'युद्ध' का सीधा प्रभाव पड़ा, पर पराधीन देश उससे अछूता बचा रहा यह कहना भी गलत है। ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए भारतीय धन-जन की आहुति चढ़ाई गई (हमारे देश के चोटी के नेताओं ने भी उस समय युद्ध-सहायता प्रदान की) और जब मित्र राष्ट्र जीते तो भारतीयों को उनकी सेवा के उपलक्ष्य में दमनकारी कानूनों के शिकंजों में जकड़कर रौंदा गया, पीसा गया! इसकी प्रतिक्रिया समस्त देश में हुई। गाँधीजी के नेतृत्व में देश स्वाधीनता के लिए छटपटाने लगा, वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष मार्ग से विद्रोह के पथ पर चलने लगा। देश की बाह्य क्रान्ति साहित्य में प्रतिबिंबित हुई।[1] इस समय हिन्दी-कविता के दो रूप दिखाई दिए। एक तो वह जिसमें देश की स्वाधीन भावना मुक्तकण्ठ से मुखरित हो रही थी—कवि अपने चारों ओर की उत्पीड़नमयी घटनाओं और जनता के रोष को अभिधा में व्यक्त कर रहा था। दूसरा वह जिसमें धर्म, समाज तथा साहित्य की रूढ़ियों से विमुख होकर कवि अपनी सत्ता को स्वच्छन्द रीति से प्रतिष्ठित करने का आग्रह कर रहा था। मनोविज्ञान की भाषा में कहा जा सकता है कि देश के बाह्य राजनीतिक विद्रोह में भाग लेने में अक्षम मन ने साहित्य के निरापद क्षेत्र में अपनी स्वच्छन्द वृत्ति का परिचय दिया। यही स्वच्छन्दतावाद आगे चलकर छायावाद-रहस्यवाद से अभिहित किया जाने लगा।

पर हिन्दी-छायावाद में स्वच्छन्दतावाद का जो रूप दिखलाई दिया वह प्रथम महायुद्ध के पश्चात् कवि हार्डी, यीट्स या डीलामिरे का स्वच्छन्दतावाद नहीं है उसमें तो वर्ड्स्वर्थ, शैली, कीट्स, कालरिज, टेनीसन की स्वच्छन्द आत्मा झाँक रही है, सीधे या बँगला के माध्यम से। जिस प्रकार अँग्रेजी के स्वच्छन्दता-युग के कवियों ने कविता की पुरातन मान्यताओं को तिरस्कृत करके उसे नये रूप में प्रतिष्ठित किया, उसी प्रकार छायावादी कवियों ने भी कविता को देखने की नई दृष्टि दी; जिससे पूर्ववर्ती शास्त्रीय समीक्षा धीरे-धीरे दूर होकर कालेजीय विवेचना—टीकाओं—में सिमटकर रह गई! 'प्रसाद' कहते हैं—"इस युग की ज्ञान-सम्बन्धिनी अनुभूति में भारतीयों के हृदय पर पश्चिम की विवेचन-शैली का व्यापक प्रयत्न क्रियात्मक रूप में दिखलाई देने लगा किन्तु साथ ही-साथ ऐसी विवेचनाओं में प्रतिक्रिया के रूप में भारतीयता की भी दुहाई सुनी जा रही

---

१. "आकाश में आच्छन्न होने वाले बादल जिस क्रान्ति से उमड़े थे, छायावाद भी ठीक उसी क्रान्ति का पुत्र था। जिस क्रान्तिकारी भावना के कारण बाह्य जीवन में राजनीतिक दुरवस्थाओं की अनुभूतियाँ तीव्र होती जा रही थी, वही भावना साहित्य में छायावाद का रूप धारण कर खड़ी हुई थी और मनुष्य की मनोदशा विचार एवं सोचने की प्रणाली में विप्लव की सृष्टि कर रही थी।"—दिनकर 'मिट्टी की ओर' में।

है।" 'प्रसाद' ने भी साहित्य-कला की विवेचना करते समय भारतीय पारिभाषिक शब्दों को विस्मरण नही किया, पर उनकी व्याख्या मे आधुनिकता भरने की चेष्टा स्पष्ट दिखलाई देती है। वे कहते है—"यदि हम भारतीय रुचि-भेद को लक्ष्य मे न रखकर साहित्य की विवेचना करने लगेंगे तो ·····प्रमाद कर बैठने की आशका है।" इस तरह छायावादी कवि पाश्चात्य और भारतीय, दोनो मान्यताओ को लेकर चलते है। उन्होने साहित्य क्या है ? कविता क्या है ? उसके प्रेरक स्रोत क्या हैं ? उसका भाव (matter) और वाह्य रूप-विधान (Form) से क्या सम्बन्ध है ? वह युग-सापेक्ष है या निरपेक्ष आदि प्रश्नो पर विचार किया है। प्रसाद ने काव्य को "आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति" कहा है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है।" वे 'काव्य और कला' मे लिखते है, "वह (काव्य) एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया, जो वाङ्मय रूप मे अभिव्यक्त होती है वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेम और श्रेय दोनो से परिपूर्ण होती है।" 'सकल्पात्मक मूल अनुभूति' से, 'प्रसाद' का तात्पर्य है, "आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व मे सहसा ग्रहण कर लेती है।" प्रसाद का श्रेय 'सत्य ज्ञान' ही है, जिसकी व्यक्तिगत सत्ता नही है। उसे वे एक 'शाश्वत चेतनता या चिन्मयी ज्ञान-धारा' कहते है जो "व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रो के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है।······'असाधारण अवस्था' 'युगो की समष्टि अनुभूतियो' मे अन्तर्निहित रहती है।" 'प्रसाद' की काव्य की यह रहस्यमयी व्याख्या आग्ल-रोमैटिक-युग के कवियो की अन्तर्प्रेरणा और अन्तर्ज्ञान (Inspiration and Intuition) समन्वित-सी जान पड़ती है। उनके 'अन्तर्प्रेरणा और अन्तर्ज्ञान' मे अज्ञात सत्ता का स्पन्दन भाव भी निहित है।

ब्लेक का कथन है, "Vision or imagination is a representation that externally exists really and unchangeably" (भीतरी झलक या कल्पना बाह्यावस्थित शाश्वत सत्य का प्रतिनिधि रूप है) काव्य-प्रतिभा परम सत्य (Truth and reality) को अनुभव करने की शक्ति का नाम है। 'प्रसाद' का 'सत्य', 'शाश्वत चेतन' या 'चिन्मयी ज्ञान-धारा' ब्लेक के Truth and reality से दूर नही है। कॉलरिज भी कविता को विशिष्ट अनुभूति की अभिव्यक्ति मानता है और उसमे भीतरी सत्य (Inner truth) का आभास पाता है। रोमाण्टिक कवि अनुभूति मे आध्यात्मिकता का आभास पाकर 'प्रसाद' की 'आत्मा की अनुभूति' तक प्रायः पहुँच जाते है।[1] रामकुमार ने लिखा है, "आत्मा की गूढ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही कविता है।" और महादेवी 'सत्य को काव्य का साध्य और सौन्दर्य को उसका साधन' कहती है। महादेवी का 'सत्य' प्रसाद और रामकुमार की 'आत्मिक अनुभूति' के समान ही व्यापक है। 'पन्त' ने काव्य-सत्य के सम्बन्ध मे 'आधुनिक कवि' मे अपने विचार व्यक्त किये हैं, "मै कल्पना के सत्य को (जो केवल कवि-सुलभ संवेदनशीलता से प्राप्त किया जा सकता है) सबसे बडा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ।" 'दिनकर' की धारणा है, "कवि की कल्पना के अगल-बगल भावुकता और दार्शनिकता के पंख लगे रहते हैं। सच पूछिए तो प्रेरणा और भावुकता के आलोक मे जगमगाने वाली दार्शनिक

1. "A poem is the very image of life expressed in its eternal truth."—Shelley

अनुभूतियाँ महान् काव्य का मेरुदण्ड है।"

छायावादी कवि ऑग्ल-समीक्षकों के समान कविता के आत्मपरक (Subjective) और परात्मक (Objective) भेद प्रायः नहीं मानते। वे बाहर को भीतर का प्रकाश और अन्तर को बाहर की छाया अनुभव करते है। रामकुमार कहते हैं, "जिस समय आत्मा का व्यापक सौन्दर्य निखर उठता है उस समय कवि अपने मे सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है। उस समय क्षण-क्षण में 'मै' और 'सब' मे विपर्यय हो जाता है। "मैं" चिरन्तन भावनाओं मे 'सब' का रूप धारण कर लेता है।, माखनलाल का वक्तव्य है, "साँस बूझ जिस तरह एक-दूसरे के विद्रोही नहीं, उसी तरह विश्व के प्रलयंकर और कोमल परिवर्तन तथा युग का निर्माण तथा दूसरी तरफ हृदयोन्मेष तथा विश्व के विकास के वैभवशील कौशल—दोनो मे कहीं विद्रोह नहीं दीख पडता। क्योंकि एक कवि के रक्त की पहचान और सिर का दान माँगती है, और दूसरी तरफ वस्तु मे समा सकने के कोमलतर क्षणो के उच्चतर समर्पण का सुबूत चाहती है। एक कवि का निश्चय, और दूसरी कवि की अनुभूति बनकर रहना चाहती है।" 'बच्चन' के लिए भी "स्वप्न का जीवन उतना ही सत्य है जितना भौतिक।" 'निराला' की ये पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं :

"मैने 'मैं' शैली अपनाई
देखा एक दुखी निज भाई
दुख की छाया पडी हृदय मे
झट उमड वेदना आई।"

महादेवी कहती है,"जीवन का वह असीम और चिरन्तन सत्य जो परिवर्तन की लहरों मे अपनी क्षणिकअभिव्यक्ति करता है अपने व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही रूपों की एकता लेकर साहित्य मे व्यक्त होता है। साहित्यकार जिस प्रकार यह जानता है कि बाह्य जगत् मे मनुष्य जिन घटनाओ को जीवन का नाम देता है वे जीवन के व्यापक सत्य की गहराई और उसके आकर्षण की परिचायक हैं, जीवन नहीं; उसी प्रकार यह भी उससे छिपा नहीं है कि जीवन की जिस अव्यक्त रहस्य की वह भावना कर सकता है उसी की छाया इन घटनाओ को व्यक्त रूप देती है। इसी से देश और काल की सीमा मे बँधा साहित्य रूप मे एकदेशीय होकर भी अनेकदेशीय और युग विशेष से सम्बन्ध रहने पर भी युग-युगान्तर के लिए संवेदनीय बन जाता है।"

कालरिज श्रेष्ठ कविता उसी को कहता है जिसमे कवि अपने सुख-दुःख से ऊपर उठकर सृष्टि के सुख-दुःख मे अपने को मिला देता है।[1] Self regarding emotion स्वार्थ-सीमित भावनाओं में प्रेषणीयता नहीं होती। 'पंत' 'आधुनिक कवि' मे स्वीकार करते हैं, "यह सच है कि व्यक्तिगत सुख-दुःख के सत्य को अथवा अपने मानसिक संघर्ष को मैने अपनी रचनाओं मे वाणी नही दी। मैने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है।"·········बौद्धिकता और भाव-प्रवणता (emotion) को पंत एक मानते हैं। प्रसाद ने भी बुद्धि और भाव को मन के ही दो रूप प्रतिपादित किये है[2] अतः जो बाह्यात्मक रचनाओं को बौद्धिक कहकर उनका इसलिए उपहास करते हैं कि उसमे कवि का 'मन' नहीं रमा रहता है, वे भ्राति मे हैं। कवि को द्रवित होने के

१. "So long as the poet gives utterances merely to his subjective feeling he has no right to the title."—Colridge.

२. 'काव्य और कला' पृष्ठ ४७.

लिए उसी पर सीधी चोट का पडना आवश्यक नही है। वह बाह्य वस्तु के माध्यम से भी पीड़ित हो सकता है। विधवा की करुण मानसिक स्थिति के अंकन के लिए कवि को स्वयं विधवा बनने की आवश्यकता नहीं है। उसके हृदय की संवेदनशीलता विधवा के दुःख को कल्पना के माध्यम से ग्रहण कर लेती है। इसी से कल्पना को केवल 'बुद्धि-व्यापार' नही कहा जा सकता। वह कवि की सवेदनशीलता से जाग्रत होती है और उसमे स्वयं सवेदना भी भरती है। 'पंत' और 'निराला' ने बहुत सजगता से 'स्व' और 'पर' मे विभेदक पर्दा नही रहने दिया। इससे हिन्दी-समीक्षा को एक नई दृष्टि [1] मिली है।

काव्य की अभिव्यंजना के सबंध मे छायावादियो मे मतभेद है। अभिव्यंजना मे भाषा, छन्द, अलंकार आदि का समावेश होता है। वह काव्य की बाह्य आकृति (form) है। जब कलाकार के मन मे कला-कृति का चित्र पूर्ण रूप से उतर आता है तभी अभिव्यक्ति मे पूर्णता आती है। 'प्रसाद' कहते हैं—"जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है, वही अभिव्यक्ति अपने मे पूर्ण हो सकी है; वही कौशल या विशिष्ट पद-रचनायुक्त काव्य-शरीर सुन्दर हो सका है।"[2] व्यंजना वस्तुतः अनुभूति मयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है। क्योकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही।"[3] 'प्रसाद' कला – अभिव्यंजना—को भाव (अनुभूति) से कम महत्त्व नहीं देते। क्रोशे के समान वे उसे प्रायः अभिन्न मानते हैं।

काव्य की भावाभिव्यंजना भाषा और प्रायः छन्द का रूप धारण करती है। भाषा को भावानुरूपिणी होना चाहिए, इस सम्बन्ध मे 'पंत' का आग्रह है "कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पडती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिएँ, जो बोलते हो; सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े; जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि मे आँखो के सामने चित्रित कर सके; जो झंकार मे चित्र, चित्र मे झंकार हो।" छायावादी कवियो ने भाषा को माधुर्य प्रदान करने मे कम योग-दान नही दिया। कहीं-कहीं तो इसी से कवि की अनुभूति उसी के आवरण मे ओझल हो गई है। तभी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को जोर से कहना पड़ा कि छायावादी अभिव्यंजना पर ठहर गए हैं। उनकी भावना का स्रोत सूख गया है। 'प्रसाद' ने छायावादी रचना को 'अभिव्यक्ति' की भगिमा पर अधिक निर्भर कर दिया। उन्होंने कहा—"ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं।"[4]

भाषा मे 'प्रतीक' शब्दो के प्रयोग की ओर छायावादी कवि का विशेष आग्रह रहा है। उसने "कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को, ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप-तोल और काट-छाँटकर तथा कुछ नये गढकर अपनी सूक्ष्म भावनाओ को कोमल कलेवर दिया।" (महादेवी 'आधुनिक कवि' पृष्ठ १०) 'निराला' भी भाषा को 'भावो की अनुगामिनी' मानते हैं

---

१. बौद्धिकता हार्दिकता का ही दूसरा रूप है।" (आधुनिक कवि—८)
"मनु अर्थात् मन के दोनो पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इडा से भी लग सकता है।" 'कामायनी' (आमुख में)
२. काव्य और कला—पृष्ठ २७
३. वही
४. काव्य और कला—पृष्ठ १२६.

और यह भी कि "बड़े-बड़े साहित्यिकों की भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही।" भाषा की पुष्टि के लिए उन्होंने (छायावादियों ने) अलकारों का उपयोग किया है। 'पन्त' उन्हें 'राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान' (पल्लव-पत्रिका) कहते हैं।

यद्यपि छन्दों के प्रति सामान्य विद्रोह रहने पर भी छायावादी कवियों ने छन्द-सी लयता का कभी विरोध नहीं किया। स्वच्छन्द छन्दता के समर्थक निराला 'गीति-काव्य के प्रबल पुरस्कर्ता' है। 'जीवन' मे लय-प्रवाह की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा सयम लाने के लिए 'पन्त' काव्य में छन्द की आवश्यकता अनुभव करते हैं। "हिन्दी का सगीत केवल मात्रिक छन्दों ही मे अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता, उन्हीं के द्वारा उसके सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। संस्कृत के वर्ण-वृत्त हिन्दी की प्रकृति के प्रतिकूल हैं।" क्योंकि "उनकी नहरों मे उसकी धारा अपना चंचल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कल-कल, छल-छल तथा अपने क्रीड़ा-कौतुक, कटाक्ष एक साथ खो बैठती, उसकी हास्य-दृप्त सरल मुख-मुद्रा गम्भीर-मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ़ हो जाती; उसका चंचल भृकुटि-भंग दिखलावटी गरिमा से दब जाता है।" भगवतीचरण वर्मा "मुक्त छन्द की कविता को अधिक-से-अधिक गद्य-काव्य मानते हैं," कविता नहीं। ('प्रगतिशील कविता' पर रेडियो-प्रसारित परिसंवाद) 'दिनकर' कविता मे छन्द को स्वाभाविक मानते हैं क्योंकि 'छन्दःस्पन्दन समग्र सृष्टि मे व्याप्त है, कला ही नहीं, जीवन की प्रत्येक शिरा मे यह स्पन्दन एक नियम से चल रहा है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह-मण्डल और विश्व की प्रगति-मात्र मे एक लय है जो समय के ताल पर यति लेती हुई अपना काम कर रही है।" ('मिट्टी की ओर' पृष्ठ १२१) 'लय' और 'ताल' पर महत्त्व देने के कारण ही कई छायावादियों ने भाषा के व्याकरण की अधिक पर्वाह नहीं की।

द्विवेदी-युग मे जहाँ कविता नपे-तुले विषय, परम्परागत अलंकार, छन्दों मे वर्णन का शास्त्र बन गई थी, वहाँ छायावाद-युग मे कवियों ने उसे परखने का नया दृष्टिकोण प्रचलित किया, वस्तु के साथ भाव का मेल किया और उसे कला के साथ समन्वित करने का प्रयास करके क्रोशे के शब्दों मे अन्तर्प्रेरणा तथा अभिव्यजना (Intuition and Expression) का सुन्दर गठबन्धन किया। उनके सामने जीवन को देखने का भी प्रश्न था। 'जीवन ऐसा होना चाहिए,' 'जीवन ऐसा है या जीवन सबसे पृथक् हो' की समस्या उसके सामने खड़ी थी। 'जीवन ऐसा होना चाहिए' मे आदर्शवाद, 'जीवन ऐसा है' मे यथार्थवाद, और जीवन सबसे पृथक् होने मे व्यक्तिवाद आ जाता है।

महादेवी ने आदर्श और यथार्थ दोनों पर विचार किया है। "आदर्श हमारी दृष्टि की मलिन संकीर्णता धोकर उसे बिखरे यथार्थ के भीतर छिपे हुए सामंजस्य को देखने की शक्ति देता है। हमारी व्यष्टि मे सीमित चेतना को मुक्ति के पख देकर समष्टि तक पहुँचने की दिशा देता है। और हमारी खण्डित भावना को अखण्ड जागृति देकर, उसे जीवन की विविधता नाप लेने का वरदान देता है।" "यथार्थ स्थूल बन्धनों के भीतर निश्चित स्थिति रखता है।"..."आदर्श का सत्य निरपेक्ष है परन्तु यथार्थ की सीमा के लिए सापेक्षता आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य रहेगी।" आदर्शवादी कलाकार अपनी सृष्टि को अन्तर्जगत् मे घेर लेता है। और यथार्थवादी "अपने निर्माण को केवल बाह्यजगत् मे बिखरा देता है।" पर यथार्थवादी का 'कर्म' सहज नहीं है। महादेवी उसमे अशिवत्व-तत्त्व नहीं देखना चाहती। महादेवी जीवन मे ऐसे आदर्श को अपनाना

चाहती है, जिसे प्रेमचन्द ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहा है, ऐसा आदर्श जो यथार्थ के संकेत छोड़ जाता है। 'बच्चन' आदर्श और यथार्थ दोनो से स्फूर्ति पाते हैं। उनका इंगित है—"देखते नही कि उसका एक हाथ उपवन मे खिली चमेली का हिम-कण हार उतार रहा है और दूसरा हाथ भविष्य के तपोमय साम्राज्य मे निर्भीकता के साथ प्रविष्ट होकर उषा की साड़ी खीच रहा है, देखते नही उसका एक कान निर्भरिणी की रागिनी श्रवण कर रहा है और दूसरा कान इन्द्र के अखाड़ो मे खडे हुए संघर्ष, किन्नर और अप्सराओ के आलाप का आनन्द ले रहा है।" ('मधुबाला'-प्रलाप, पृष्ठ १०-११)

आज हिन्दी मे जिस यथार्थवादी साहित्य को प्रगतिवाद के नाम से पुकारा जाता है उस सम्बन्ध मे छायावादियो का दृष्टिकोण यह है कि वे इन यथार्थवादी रचनाओ मे कवि का यथार्थ पाते ही नही। प्रसाद का मत है—"यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से कुछ अधिक नही ठहरता। क्योकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है वह चित्रित करता है समाज कैसा है या था।" प्रसाद आदर्शवाद के भी भक्त नही है। क्योकि "आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है।" वे साहित्य को इन दोनो वादो से ऊपर उठा ले जाते है, वे उनका (आदर्श और यथार्थ का) मेल कराते हैं, कहते है—"दुःख-दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।"

महादेवी भी यथार्थवाद को 'जीवन का इतिवृत्त' (इतिहास) कहती है। यथार्थ 'प्रकृति और विकृति' दोनो चित्र देने के लिए स्वतन्त्र है पर जीवन मे विकृति अधिक प्रसार-गामिनी है, परिणामतः यथार्थ की रेखाओ मे वही बार-बार व्यक्त होती रहती है। "अतः महादेवी जीवन को स्वस्थ विकास देने वाली शक्तियो का प्रगति देने वाले प्रकृति-चित्रकार को सच्चा यथार्थवादी मानती हैं। और आज की 'यथार्थवादिनी' कविता तो ऐसे "कण्ठ से उत्पन्न हो रही है जो श्रमिक जीवन से नितान्त अपरिचित है।" महादेवी और प्रसाद चूँकि यथार्थ जगत् के भौतिक जीवन से अधिक परिचित नही हो पाए इसलिए उनमे उसके प्रति तीव्र सवेदना नही जाग सकी। 'पन्त' की भी यही स्थिति है—उनकी यथार्थ (मानव जीवन) के प्रति बौद्धिक सहानुभूति अधिक रही है। प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श की उपयोगिता को नष्ट होते देखकर भी 'पन्त' ने आदर्श से विद्रोह नही किया और यथार्थ की उपेक्षा भी नही की। दोनो का समन्वय करके उन्होने कविता को एक नया 'तन्त्र' देना चाहा—"मेरा विश्वास है, लोक-संगठन तथा संगठन एक-दूसरे के पूरक है।" क्योकि वे एक ही युग (लोक) चेतना के बाहरी और भीतरी रूप है।" (उत्तरा)। आज साहित्यकार "कभी व्यक्ति से असन्तुष्ट होकर समाज की ओर झुकता है, कभी समाज से असन्तुष्ट होकर व्यक्ति की ओर।" 'पन्त' की धारणा है, "इन दोनो किनारो पर उसे अपनी समस्याओ का समाधान नही मिलेगा।" इसलिए वे 'बहिरंतर' जीवन के समन्वय को ही अधिक प्रधानता देते हैं। इस तरह 'पन्त' साहित्य मे समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे है। यह दृष्टिकोण 'प्रसाद' के समरसता का पर्याय ही कहा जा सकता है।

छायावादी कवि राजनीतिक 'वाद' के दायरे मे अपने को नहीं बाँधना चाहते। 'निराला' के शब्दो मे "एक साहित्यिक जब राजनीति को साहित्य से अधिक महत्त्व देता है तब वह साहित्य की यथार्थ मर्यादा अपनी एकदेशीय भावना के कारण घटा देता है। साहित्यिक मनुष्य की प्रवृत्तियो को ही श्रेय देता है, जीवन के साथ राजनीति का नहीं, साहित्य का सम्बन्ध है।"

दिनकर भी साहित्य को राजनीति का अनुचर नहीं मानते, "कला-क्षेत्र में हमारा दृष्टिकोण सच्चे अनिषेध का होना चाहिए। कवि के लिए जो प्रथम और अन्तिम बन्धन हो सकता है, वह केवल इतना ही है कि कवि अपने-आपके प्रति पूर्ण ईमानदार रहे।" (मिट्टी की ओर) बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' 'फ्राइडवाद' का निषेध करते हैं। वे लिखते हैं—"ज्ञान में मानव ने जो एकसूत्रबद्धता तथा कार्यकारणता विकसित की है, वह केवल ऐंद्रिक प्रतिक्रिया द्वारा उपलब्ध नहीं होती।.. मैं कला-साहित्य-समीक्षा के उस मानदण्ड को भ्रामक मानता हूँ जो प्रत्येक साहित्यिक कृति अथवा कलाकृति की सामाजिक परिस्थिति के ऊपर आत्यन्तिक रूप से आधारित कर देता है।...निश्चय ही भौतिक शरीरधारी मानव पदार्थमूलक धरातल पर कार्य करता है। बाह्य परिस्थितियाँ साहित्यिक कृतियों को प्रभावित करती हैं, पर मानव की 'न-इति' प्यास को भौतिक अभावजन्य कहना अनर्थमूलक है।" (अपलक)

छायावादी कवियों में साहित्य की रूढ़ मान्यताओं के प्रति तीव्र अनास्था भले ही न हो, फिर भी उनसे लगे रहने का उनमें आग्रह भी नहीं है। वे कविता को अन्तर्बाह्य अनुभूति का परिणाम मानते हैं, इसलिए उसके Subjective (अन्तर्वृत्ति निरूपक) और Objective (बहिर्वृत्ति निरूपक) भेद को बहुधा नहीं मानते। अन्तर में "मधुर-मधुर मेरे दीपक जल" की मनुहार करने वाली महादेवी और "मेरे नगपति मेरे विशाल" पर दृष्टि जमाने वाले दिनकर एक ही पंक्ति में बैठते हैं। 'दिनकर' की बाह्य दृष्टि होने पर भी उसका बिम्ब उनके अन्तर-पट पर ही पड़ता है।

छायावादियों का प्रकृति के प्रति तादात्म्य न होने पर भी वे उससे बराबर स्फूर्ति ग्रहण करते हैं। साहित्य को युगापेक्षी बनाना उनका ध्येय नहीं है, पर युग-चेतना से वे अवश्य अनुप्राणित होना चाहते हैं। लौकिक भावनाओं का उदात्तीकरण करने के कारण उन्हें आदर्शवादी कहा जाता है पर चूँकि उनका यह 'आदर्श' सर्वथा कल्पना-प्रसूत नहीं है उसका लगाव धरती से भी है, इसलिए हम उनमें समन्वयवादी दृष्टिकोण की ही अधिक प्रवृत्ति देखते हैं।

'भाव' की प्रतिष्ठा स्वीकारने के कारण भारतीय रसवादी और शैली के आग्रह के कारण पाश्चात्य अभिव्यंजनावादी लेने का भी उन्हें श्रेय प्राप्त है।

जगदीश गुप्त

छायावाद की भावभूमि

छायावाद की सुकुमार काव्यधारा को अपने जन्म से ही आलोचना की तीव्र दृष्टि सहनी पड़ी। उस समय उसकी भावभूमि इतनी अस्पष्ट थी कि नासमझी और रूढ़िवादिता के कारण स्वागत की अपेक्षा उसे परिहास, व्यंग्य, विरोध तथा संकीर्णता का निरन्तर सामना करना पड़ा। किन्तु द्विवेदी-युग की बाह्योन्मुखी अनगढ़ अनरस कविता की स्वाभाविक प्रतिक्रिया एवं परिणति होने के कारण छायावाद उन समस्त विरोधों के समक्ष अप्रत्याशित रूप से विजयी हुआ और उसकी अदम्य शक्ति, अभिनव सौन्दर्य तथा अतिशय सुकुमारता ने उस युग की सामान्य साहित्यिक चेतना को विमुग्ध कर लिया। कदाचित् इस विजयोन्माद ने तथा अन्य अनेक कारणों ने छायावाद की जिन गम्भीरतम आलोचना और नवीनतम व्याख्याओं की सृष्टि की वे भी उसकी वास्तविक भावभूमि को समझने में पूर्णतया सक्षम नहीं सिद्ध हुईं। अनेक गण्य-मान्य छायावादी कवियों ने तथा उन्हीं से प्रभावित कई आलोचकों ने उसे अध्यात्मवाद के भारी गौरव से अभिषिक्त कर दिया जिसको साहित्यिक शब्दावली में रहस्यवाद और सर्वात्मवाद की संज्ञा मिली। यद्यपि इस प्रवृत्ति का भी विरोध हुआ और अनेक विचारशील विवेचकों ने वास्तविकता की स्पष्ट एवं निर्भीक व्याख्या प्रस्तुत की, परन्तु फिर भी उस गुरुता से छायावादी कविता आज तक मुक्त नहीं हो सकी है। अतएव मूल प्रश्न यह है कि छायावाद की वास्तविक भावभूमि लौकिक है अथवा अलौकिक। आध्यात्मिकता उसमें है या नहीं; यदि है तो स्वाभाविक वृत्ति के रूप में अथवा कृत्रिम आरोप होकर। रहस्यवाद से छायावाद को सम्बद्ध करना कहाँ तक उचित है कहाँ तक अनुचित। और अगर है तो क्या यह रहस्यवादी प्रवृत्ति कबीर और जायसी की परम्परा का अनुसरण है अथवा पाश्चात्य 'mysticism' की गूँज-मात्र।

छायावाद के सम्बन्ध में दो मत हिन्दी-जगत् में प्रचलित हैं यह उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है। जो मत आध्यात्मिक व्याख्या का पक्षपाती है उसने छायावाद को रहस्यवाद का प्रथम सोपान माना है और दोनों की अभिन्नता का इस सीमा तक सांगोपांग प्रतिपादन किया है कि सहसा विश्वास नहीं हो पाता। फिर भी उसका संक्षिप्त परिचय पा लेना आवश्यक है। कवियों में मुख्यतः महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा तथा कुछ अंशों में प्रसाद को छायावाद की इस अध्यात्ममूलक व्याख्या का श्रेय है और आलोचकों में नन्ददुलारे वाजपेयी, गंगाप्रसाद पाण्डेय तथा विश्वम्भर 'मानव' आदि को। जिन आलोचकों का नामोल्लेख यहाँ हुआ है उनकी कृतियों अथवा आलोचनाओं को महत्त्व दिया जाय या न दिया जाय परन्तु वे इसलिए तो महत्त्व रखते ही हैं कि उन्होंने इस मत का समर्थन एवं प्रचार किया।

इस मत को गम्भीरतापूर्वक स्थापित करने का सबसे अधिक श्रेय महादेवी जी को है। उन्होंने अपने विवेचनात्मक गद्य में पग-पग पर इसका समर्थन ही नहीं वरन् शास्त्रीय आधार लेते हुए एक सुदृढ़ परम्परा तथा व्यापक जीवन-दर्शन निर्मित करने का भी प्रयास किया है।

निम्न लिखित अंश उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं :

"छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भावभूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनो के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामो का भार सँभाल सकी।"[1]

"हम यह समझ नहीं सके हैं कि रहस्यवाद आत्मा का गुण है, काव्य का नहीं।

यह युग पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित और बंगाल की नवीन काव्यधारा से परिचित तो था ही, साथ ही उसके सामने रहस्यवाद की भारतीय परम्परा भी रही।"[2]

"अलौकिक रहस्यानुभूति भी अभिव्यक्ति में लौकिक ही रहेगी।

अलौकिक आत्म-समर्पण को समझने के लिए भी लौकिक का सहारा लेना होगा।"[3]

"रहस्यवाद में जो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं उन सबके मूल रूप हमे उपनिषदों की विचार-धारा में मिल जाते हैं।

"युगो के उपरान्त छायावाद के प्रतिनिधि कवियो ने भी इस विचारधारा का विद्युत् स्पर्श अनुभव किया और यह न कहना अन्याय होगा कि उन्होंने उस परम्परा को अक्षुण्ण रखा।"[4]

यहाँ महादेवी जी ने स्वीकार किया है कि रहस्यवाद आत्मा का गुण होने के साथ-साथ काव्य का गुण भी है और छायावादी कवियो ने उपनिषदो के समय से चली आती हुई तथा जायसी और कबीर के द्वारा पोषित रहस्यवाद की परम्परा उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त की है। उनकी लौकिक लगने वाली अभिव्यक्ति वस्तुतः अलौकिक रहस्यानुभूति है क्योंकि अलौकिक आत्मसमर्पण को समझने के लिए भी लौकिक का सहारा लेना होता है।

इतना ही नहीं महादेवी जी ने छायावाद की निराशा एव दुःख की मनोवृत्ति को व्यक्तिगत असफलताओं से उत्पन्न विषाद-मात्र न मानकर उस करुणा की कोटि मे स्थापित कर दिया जहाँ वह सर्वात्मवाद बन जाती है :

"छायावाद को दुःखवाद का पर्याय समझ लेना भी सहज हो गया है। जहाँ तक दुःख का सम्बन्ध है उसके दो रूप हो सकते हैं—एक जीवन की विषमता की अनुभूति से उत्पन्न करुणा भाव, दूसरा जीवन के स्थूल धरातल पर व्यक्तिगत असफलताओं से उत्पन्न विषाद।"[5]

'व्यक्तिगत सुख-दुःख की अभिव्यक्तियाँ भी मार्मिक हो सकीं पर वे छाया-युग के

---

१. 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' पृष्ठ ६०-६१.

२. वही, पृष्ठ १०७.

३. वही, पृष्ठ १११.

४. वही पृष्ठ १४०.

५. वही, पृष्ठ ६५.

सर्ववाद से इस प्रकार प्रभावित है कि उन्हें स्वतन्त्र अस्तित्व मिलना कठिन हो गया।'[1]

इन दोनों से हटकर महादेवी जी ने छायावाद की एक तीसरी परिभाषा दी है और वह यह कि : छायावाद तत्वतः कृति के बीच में जीवन का उद्गीय है···।[2]

किसी भी विचारक की ईमानदारी मे सदेह करना अपराध है परन्तु महादेवी जी द्वारा दी गई छायावाद। की व्याख्या को देखकर ऐसा अपराध करने को जी चाहता है। इसका कारण लेखक की रुचि न होकर स्वयं महादेवी जी द्वारा प्रस्तुत व्याख्या के वे अंश हैं जो उक्त अंशों के स्वयं विरोधी हैं और घोषित करते हैं कि वास्तव से दूर जाने के प्रयत्न मे किया गया यह तिहरा प्रयास अन्त तक सफल न हो सका, क्योकि एक विचारशील पाठक आज भी उनकी व्याख्या से निस्संदिग्ध और संतुष्ट नही हो पाता। इस प्रकार की व्याख्याओ पर यह सबसे बड़ा प्रश्न-चिह्न है।

महादेवी जी ने अपने 'विवेचनात्मक' गद्य मे ही छायावाद को जागरणयुग की सृष्टि, और उसके अध्यात्म को बौद्धिक तथा रूढिगत अध्यात्म से भिन्न स्वीकार किया है।[3] उन्होने यह भी निश्चित रूप से माना कि जिस सूक्ष्म को छायावाद ने अभिव्यक्ति प्रदान की वह स्थूल से बाहर कही अस्तित्व ही नहीं रखता।

मनुष्य का व्यक्त सत्य 'स्थूल' है और 'अव्यक्त सत्य'—अर्थात् 'कुछ होने की भावना' ही 'सूक्ष्म' है।[4] साथ ही यह 'सूक्ष्म' स्थूल का ही दूसरा रूप है। यह भी उन्होने अस्वीकार नहीं किया कि छायावाद ने 'युगो से प्रचलित सस्ती भावुकता और वासना के विकृत चित्र' देने के स्थान पर उच्चतर रूप मे परिष्कृत (वासना) वैयक्तिक उल्लास-विषाद की सफल अभिव्यक्ति की।[5]

इतना सब-कुछ मान लेने के बाद उनकी रहस्यानुभूति, तथा उनके सर्ववाद और

---

१. वही, पृष्ठ ६६.

२. वही, पृष्ठ ६४.

३. (i) हमारे जागरण-युग ने जिस परिवर्तन को काव्य की रूपरेखा में स्पष्ट किया वह उसके पूर्वगामी युग में भी अशरीरी आभास देता रहा था। पृष्ठ २४.

(ii) बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया···पृष्ठ ६०.

(iii) अखण्ड चेतना से तादात्म्य का रूप केवल बौद्धिक भी हो सकता है, पर रहस्यानुभूति में बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय हो जाता है। पृष्ठ ११२.

(iv) छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर······ पृष्ठ ६६.

४. (i) छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था अतः स्थूल को उसी रूप में स्वीकार करना उसके लिए सम्भव न हुआ; परन्तु उसकी सौन्दर्य-दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण करना है—पृष्ठ ६७.

(ii) जीवन की समष्टि में सूक्ष्म से इतने भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो स्थूल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नही रखता। पृष्ठ ६८.

५. इस व्यक्ति-प्रधान युग में व्यक्तिगत सुख-दुःख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल थे, अतः छाया युग का काव्य स्वानुभूति-प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास-विषाद की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बन सका। पृष्ठ ६७.

अध्यात्मवाद मे क्या शेष रह जाता है जिसके प्रतिपादन के लिए उन्हे इतना श्रम करना पड़ा। किसी भी तटस्थ विचारक को यह स्पष्ट हो जायगा कि महादेवी जी यद्यपि छायावाद की वास्तविक भावभूमि से पूर्णतया अवगत हैं तथापि उसे वैसे स्वीकार न करके अध्यात्मवाद अथवा सर्ववाद का अनावश्यक आवरण चढ़ाकर स्वीकार करने मे उन्हे संकोचहीनता तथा सन्तोष का अनुभव होता है जो वैसे कदाचित् न होता। इस प्रकार की व्याख्या के प्रस्तुत किये जाने के मौलिक कारण वही हैं जिन्होने छायावादी कविता मे व्यक्त मानवीय भावनाओ को छाया का रूप दिया। छाया शब्द का यह अर्थ महादेवी जी को भी अग्राह्य नही है।[1] महादेवी जी यदि केवल अपनी व्याख्या को अपने काव्य तक ही सीमित रखती तो इतने विस्तार मे उस पर विचार करने की आवश्यकता न होती परन्तु उन्होने अपने विचार समस्त छायावादी काव्य के सम्बन्ध मे व्यक्त किये हैं।

महादेवी जी के विवेचन मे आने वाले अन्तर्विरोधो को छोड़ भी दिया जाय तो भी छायावाद की अलौकिकता निर्विरोध सिद्ध नहीं हो पाती, क्योकि अन्य छायावादी कवियो का मत उनके विरुद्ध है। इस सम्बन्ध मे पन्त जी द्वारा दिया गया यह विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है :

'दूसरे शब्दों में नवीन सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ग्रहण कर सकने से पहले, हिन्दी-कविता, छायावाद के रूप मे, ह्रास युग के वैयक्तिक अनुभवों, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियों, ऐहिक जीवन की आकांक्षाओ-सम्बन्धी स्वप्नो, निराशाओ और समवेदनाओं को अभिव्यक्त करने लगी और व्यक्तिगत जीवन की कठिनाइयों से क्षुब्ध होकर, पलायन के रूप मे, प्राकृतिक दर्शन के सिद्धान्तो के आधार पर, भीतर-बाहर मे, सुख-दुःख में, आशा-निराशा और संयोग-वियोग के द्वन्द्वों में सामंजस्य स्थापित करने लगी। सापेक्ष की पराजय उसमें निरपेक्ष की जय के रूप मे गौरवान्वित होने लगी।'[2]

'प्रसाद' जी ने यद्यपि अपने काव्य मे अनेक स्थलो पर रहस्यात्मकता का आश्रय लिया है परन्तु सिद्धान्ततः छायावाद को उन्होने न रहस्यवाद से सम्बद्ध किया और न प्रकृतिवाद से, वरन् ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति को छायावाद की विशेषताओ मे स्वीकार करके एक प्रकार से उसका प्रतिवाद ही किया।[3]

'निराला' जी ने इस सम्बन्ध मे अपना कोई स्पष्ट मत नही दिया परन्तु उनके काव्य मे

---

१. स्वच्छन्द-छन्द में चित्रित उन मानव-अनुभूतियो का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है। पृष्ठ ६०.

२. आधुनिक कवि, भाग २ पृष्ठ १२.

३. ··· हाँ मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब है; इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में लेकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य-धारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।

छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमयता, प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ है।—काव्य-कला तथा अन्य निबंध

स्थल-स्थल पर मानवीय स्वर इतना प्रधान है और लाक्षणिक आवरण भी इतना झीना है कि उनके सम्पूर्ण काव्य की आध्यात्मिक व्याख्या नहीं की जा सकती।

छायावाद की प्रारम्भिक अवस्था में कविताओं पर आध्यात्मिकता की ध्वनि का आवरण पूरी तरह नहीं चढ़ पाया था अतएव प्रारम्भिक आलोचक शुक्लजी को उसकी वास्तविक भाव-भूमि परखने में भ्रान्ति नहीं हुई। उन्होंने लिखा :

'प्रणय-वासना का यह उद्गार आध्यात्मिक पर्दे में ही छिपा न रह सका। हृदय की सारी काम वासनाएँ, इन्द्रियों के सुख-विलास की मधुर और रमणीय सामग्री के बीच, एक बँधी हुई रूढ़ि पर व्यक्त होने लगी। इस प्रकार रहस्यवाद से सम्बन्ध न रखने वाली कविताएँ भी छायावाद की कही जाने लगीं अतः 'छायावाद' शब्द का प्रयोग रहस्यवाद तक ही न रहकर काव्य-शैली के सम्बन्ध में भी प्रतीकवाद के अर्थ में होने लगा।

'रीतिकाल की श्रृङ्गारी कविता की भरमार की तो इतनी निन्दा की गई पर वही श्रृङ्गारी कविता कभी रहस्य का पर्दा डालकर, कभी खुले मैदान अपनी कुछ अदा बदलकर फिर प्रायः सारा काव्य-क्षेत्र छेंककर चल रही है।'

किन्तु जहाँ इस प्रकार की तीव्र आलोचना शुक्लजी ने की वहीं छायावाद में कुछ अंश तक आध्यात्मिक प्रेम की सत्ता की साक्षी भी दी है :

'छायावाद जहाँ तक आध्यात्मिक प्रेम लेकर चला है वहाँ तक तो रहस्यवाद के ही अन्तर्गत रहा है। उसके आगे प्रतीकवाद या चित्रभाषावाद नाम की काव्य-शैली के रूप में गृहीत होकर भी यह अधिकतर प्रेम-गान ही करता रहा है।'

प्रसाद जी की तरह शुक्ल जी की व्याख्या भी छायावाद के भावपक्ष को गौण और शैली-पक्ष को प्रधान मानकर चली है जब कि वास्तविकता यह है कि छायावादी कविता की भाव-सम्पत्ति को किसी प्रकार उसकी शैली की तुलना में अप्रधान नहीं ठहराया जा सकता।

शुक्ल जी के अनन्तर अनेक आलोचक छायावाद की समीक्षा करने में प्रवृत्त हुए। आध्यात्मिकता के पक्ष के प्रायः सभी समर्थकों को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से महादेवी जी की विचार-धारा ने प्रभावित किया और कुछ दूर तक विरोधियों को भी तीव्र प्रतिवाद करने का आमन्त्रण दिया।

छायावाद की नई-नई परिभाषाएँ सामने आने लगीं और काव्य में आध्यात्मिकता की विविध अवस्थाएँ खोजी जाने लगीं।

नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपना विचार व्यक्त किया कि 'छायावाद के मूल में स्थित आध्यात्मिक दर्शन के ही कारण नये भौतिकवादी उसमें दोष-ही-दोष देखते हैं।[1] अन्यत्र कहा गया कि 'विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है। छायावादी कवि प्रकृति के पुजारी की भाँति विश्व के कण-कण में अपने सर्व-व्यापक प्राणों की छाया देखता है। इसकी तीन अवस्थाएँ बताई गईं। पहली 'सृष्टि के प्रति विस्मय का भाव', दूसरी 'मानसिक अशान्ति की आकुलता का आभास', तथा तीसरी 'प्रेम के प्रकाश की प्राप्ति', इसी को छायावाद की चरम परिणति माना गया, जहाँ पहुँचकर छायावादी उसी

१. 'आधुनिक साहित्य' पृष्ठ २४२.

ध्येय को प्राप्त करता है जिसे दार्शनिक एवं रहस्यवादी।[1] महादेवी जी के दीपक को आत्मा का प्रतीक मानकर 'दीपशिखा' तक आने के चार याम 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' और 'सान्ध्यगीत' को उनकी आध्यात्मिक रहस्यानुभूति की साधना के चार सोपान समझा गया।[2] इस प्रकार इस तरह की आध्यात्मिक व्याख्या ने साधारण पाठक को यह सोचने पर बाध्य किया कि छायावादी कवि एक असाधारण प्राणी होता है जो साधकों और सूफियों की तरह इस लोक को भूलकर किसी इतर सौन्दर्य-लोक मे निवास करने वाले अव्यक्त, असीम, अज्ञात प्रियतम की खोज मे निरत रहता है। उसका सारा काव्य इस लोक की ऐहिक आकांक्षाओं से सम्बन्ध न रखकर एक अलौकिक प्रेम-विरह की रहस्यानुभूति से सम्बन्ध रखता है और उसे सामान्य मानवीय अनुभूतियों के धरातल पर उतार लाना अनुचित एवं असंगत है।

छायावाद पर आध्यात्मिकता के जितने गहरे आवरण डालने के प्रयास इस ओर से हुए उनका उतना ही तीव्र प्रतिवाद दूसरी ओर से किया गया और कटु सत्य को निरावृत रूप में सामने लाने का आग्रह भी एक दूसरी सीमा पर पहुँच गया। कवियो मे पंत जी ने छायावाद की यथार्थवादी व्याख्या प्रस्तुत की ही थी, डॉ० नगेन्द्र, शिवदानसिंह चौहान तथा डॉ० देवराज आदि आलोचकों ने भी नवीन-नवीन तर्कों के आधार पर आध्यात्मिक अनुभूति के रहस्य का उद्घाटन करना प्रारम्भ कर दिया और यह विचार-धारा आज अपेक्षाकृत अधिक जीवित रूप मे स्थित है।

डॉ० नगेन्द्र ने छायावाद का आधार पहले 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह'[3] बताया फिर कदाचित् विद्रोह की वास्तविक प्रेरणा का अभाव देखकर अपनी शब्दावली को बदल दिया और फिर 'उसके मूल मे स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह'[4] कहना अधिक उचित समझा।

जहाँ तक छायावाद की भावभूमि का सम्बन्ध है उन्होंने उसे नितान्त लौकिक माना और लिखा कि छायावाद के कवि की 'प्रेरणा उसकी कुण्ठित वासनाओं से ही आई है, सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से नहीं।'[5] इन कुण्ठाओं का कारण उनके अनुसार 'राजनीति मे ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज मे सुधारवादी दृढ़ नैतिकता, असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थीं। निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन मे जाकर बैठ रही थी, और वहाँ से क्षति-पूर्ति के लिए छाया-चित्रों की सृष्टि कर रही थी। आशा के इन स्वप्नो और निराशा के इन छाया-चित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलाई।'[6] 'वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की प्रवृत्ति' को उन्होंने छायावाद की मूल वृत्ति घोषित किया और उसकी रहस्यवादी प्रकृतिवादी आदि अन्य सभी प्रवृत्तियों की इसी अन्तर्मुखी वायवी वृत्ति के आधार पर व्याख्या की।[7] तथाकथित रहस्यानुभूतियों को तो स्पष्ट रूप से उन्होंने बौद्धिक जिज्ञासाएँ-मात्र माना, क्योंकि वे धार्मिक साधना

१. 'छायावाद : रहस्यवाद'—गंगाप्रसाद पाण्डेय, पृष्ठ २१.
२. 'महादेवी की रहस्य-साधना'—विश्वम्भर 'मानव', पृष्ठ ५२-५३-५४.
३. 'सुमित्रानन्दन पन्त'—पृष्ठ ३.
४. 'विचार और अनुभूति'—पृष्ठ ५३.
५. वही, पृष्ठ ५६.
६. वही, पृष्ठ ५३.
७. वही, पृष्ठ ५४.

पर आश्रित न होकर कहीं भावना, कहीं चिन्तन और कहीं केवल मन की छलना पर ही आश्रित है।[१] शिवदानसिंह चौहान ने 'छायावादी कविता में असन्तोष की भावना' को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया और उसकी समाजवादी पर्यालोचना करते हुए लिखा :

'छायावाद का कवि अपने भावों पर चारों ओर बन्धन-ही-बन्धन देखता है। उसके मध्यवर्गी सुख-स्वप्न टूट चुके हैं। वह सामाजिक जीवन की चेतना को विकराल और भयानक पाता है। उसकी चेतना आज उसे ही काट रही है। पूँजीवाद की तरह उसकी चेतना भी आज मानवता का प्रतिनिधित्व नहीं करती। निदान इतना क्रन्दन-रुदन, इतनी निराशावादिता।'[२]

चौहान जी ने असन्तोष के साथ पलायन की प्रवृत्ति पर भी विशेष बल दिया परन्तु पलायन छायावादी भाव-धारा का मौलिक आधार नहीं है, इस ओर नगेन्द्र जी तथा महादेवी जी दोनों ने ही संकेत किया है।[३] डॉ० देवराज ने निम्न शब्दों में उसका सतर्क प्रतिवाद किया है :

'वस्तुतः छायावादी काव्य की प्रेरक शक्ति प्रकृति के कोमल सूक्ष्म रूपों का आकर्षण है न कि सामाजिक वास्तविकता का विकर्षण, उसके मूल में प्रेम और सौन्दर्य की वासना है न कि आध्यात्मिक पूर्णता की भूख।'[४]

छायावाद के पतन के हेतुओं का निर्देश करते हुए उन्होंने अन्यत्र छायावादी काव्य के आध्यात्मिक होने का भी प्रतिवाद किया है :

'प्रथम तो हम मानते हैं कि छायावादी काव्य धार्मिक या आध्यात्मिक नहीं है, किन्तु यदि वह ऐसा होता तो भी इस धर्म-प्राण देश में जनता उससे इतनी जल्दी न ऊबती।'[५]

निष्कर्ष रूप में वे छायावाद की कल्पनाशीलता को उसके पतन का चरम हेतु स्वीकार करते हैं और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों को अनुभूति-जन्य न मानकर कल्पना-जन्य मानते हैं। छायावाद के सम्बन्ध में उनकी कतिपय अन्य धारणाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ :

'उसकी अभिरुचि का केन्द्र मनुष्य है, ईश्वर नहीं, यह लोक है, परलोक नहीं।

छायावाद आधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का

---

१. 'सुमित्रानन्दन पन्त,' पृष्ठ ४७.

२. 'प्रगतिवाद', पृष्ठ ३७.

३. (i) आज के आलोचक इसे पलायन कहकर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तव को वायवी या अतीन्द्रिय रूप देना ही है—जो मूल रूप में मानसिक कुण्ठाओं पर आश्रित होते हुए भी प्रत्यक्ष रूप में पलायन नहीं है।

—'विचार और अनुभूति', पृष्ठ ४४.

(ii) ...तब हम कैसे कह सकते हैं कि केवल संघर्षमय यथार्थ-जीवन से पलायन के लिए ही उस वर्ग के कवियों ने सूक्ष्म भाव-जगत् को अपनाया।

—'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', पृष्ठ ७४–७५.

४. 'छायावाद का पतन', पृष्ठ ६.

५. वही, पृष्ठ ६.

विद्रोह था।'[1]

'ऐतिहासिक दृष्टि से छायावाद-युग का वातावरण आध्यात्मिकता के उपयुक्त न था।' [2]

संक्षेप मे पूर्व उल्लिखित मत की तुलना मे यह मत अधिक वैज्ञानिक, अधिक बुद्धिगम्य तथा अधिक संगत एवं समीचीन प्रतीत होता है। छायावाद की भावभूमि का बहुत-कुछ यथार्थ रूप उक्त स्थापनाओ से प्रकट हो जाता है।

वस्तुतः छायावादी काव्य को आध्यात्मिक कहना लगभग वैसा ही है जैसा जयदेव के 'गीत-गोविंद' और विद्यापति के पदो को भक्ति-काव्य मानना। उसमे शृङ्गारिकता—न स्थूल सही सूक्ष्म ही सही—की मात्रा इतनी अधिक है कि किसी प्रकार उसकी लौकिक प्रेरणा को उपेक्षित नही किया जा सकता। प्रायः सभी छायावादी कवियो की प्रारम्भिक रचनाओ से लौकिक प्रेरणा का स्वर अलग पहचाना जा सकता है।

'रश्मि' और 'नीहार' की निम्न लिखित पंक्तियो मे आधार की अलौकिकता की अपेक्षा लौकिकता ही अधिक झलकती है :

(i) सजनि कौन तम में परिचित सा, सुधि सा, छाया सा आता। 'रश्मि'

(ii) मेरे नीरव मानस में वे धीरे-धीरे आये। 'नीहार'

'आँसू' के प्रथम रूप मे उतनी रहस्यवादिता न थी जितनी बाद के परिवर्धित रूप मे आ गई। 'बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरो से' अथवा 'मुख कमल समीप सजे थे दो किस-लय-दल पुरइन के' से जिस सौन्दर्यमय व्यक्तित्व की ओर संकेत किया गया है उसके मिलन की अनुभूति न अतीन्द्रिय हो सकती है और न आध्यात्मिक। वह इतनी तीव्र अवश्य रही होगी कि उसकी अभिव्यक्ति 'कुछ शेष चिह्न है केवल मेरे उस महा मिलन के' के द्वारा ही सम्भव हो सकी। पन्तजी की 'आम्रतरु' वाली कविता तथा निराला की 'जूही की कली' भी इसी बात का प्रमाण है कि छायावादी कवियो को प्रेरणा किसी अज्ञात प्रियतम से न प्राप्त होकर ज्ञात प्रियतम से ही प्राप्त हुई।

कहा जा सकता है कि जिस प्रकार सूफियो मे 'इश्क मजाजी' 'इश्क हकीकी' में परिणत हो जाता था उसी प्रकार छायावाद मे लौकिक अनुभूतियाँ अलौकिक अनुभूतियो मे परिणत हो गई। अनेक भक्तो मे भी लौकिक प्रेम अलौकिक रूप धारण करता देखा गया है। यहाँ पहले तो इश्क हकीकी या अलौकिक प्रेम-जैसी कोई वस्तु होती भी है इसी पर शंका होती है। यदि उसे स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी सूफियो और भक्तो मे संसार के प्रति जो विराग भाव मिलता है वह छायावादी काव्य मे उपलब्ध नही होता। वास्तव में संसार की अस्थिरता तथा जीवन की दुःखमयता के प्रति सूफियो तथा भक्तो का दृष्टिकोण विरागात्मक है और छायावादी कवियो का रागात्मक। छायावादी काव्य का सूक्ष्म परिशीलन करने पर भी यह कही ज्ञात नही होता कि कब कवि ने लौकिक प्रेरणा को छोड़ा और कब अलौकिक को ग्रहण किया।

ऐसी दशा मे या तो यही सत्य प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक कविताओ मे व्यक्त होने वाली एहिक आकांक्षाओ की ही अभिव्यक्ति रहस्यानुभूति के नाम से की गई। लोगो को भ्रम

१. 'छायावाद का पतन,' पृष्ठ १४.

२. वही, पृष्ठ १५.

लाक्षणिकता के सौन्दर्यमय आवरण के कारण हुआ जो आज भी सम्भव है। छायावाद के उत्तरांश में जिन कवियो ने उस लाक्षणिकता से अपनी भावनाओ को आवृत नही किया उनमे वास्तविकता ऊपर आकर बोल उठी। भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, तथा अंचल आदि कवियो की कविताएँ इसकी साक्षी है। इस प्रकार छायावाद का आदि और अन्त दोनो ही उसकी आध्यात्मिक व्याख्या के विरुद्ध सिद्ध होते हैं। आध्यात्मिकता का आरोप जिन कविताओ पर किया जाता है उनका वैसा प्रभाव नही पडता। व्यक्तिगत जीवन की सीमाओ को यह आरोप तिरोहित नही कर पाता। कविताओ मे सर्वप्रमुख रूप से व्याप्त निराशा किसी भी कवि को कबीर-जैसी निर्भीकता से कहने नहीं देती :

हम न मरै मरिहै संसारा।
हमका मिला जियावन हारा॥

और न रवीन्द्रनाथ के गीतो की तरह उनमे मुक्त उल्लास एवं आनन्द की ही अभिव्यक्ति है। छायावादी काव्य के निराशावाद को न तो हम सर्वात्मवाद की करुणा का रूप कह सकते हैं और न परमात्मा के वियोग मे आत्मा की व्यथा। वह निश्चय ही लौकिक भावभूमि का प्रमाण है और उसकी समाजवादी व्याख्या बहुत-कुछ सही है। पाश्चात्य प्रभाव ने भी युग को बौद्धिकता की ओर मोडा, अध्यात्म की ओर नहीं।

भौतिकवाद को ही सब-कुछ न समझकर चेतन अथवा आत्मा पर विश्वास करने वाला व्यक्ति भी कह सकता है कि छायावादी कविता मन के स्तर से गहरी नही गई है। उसमे आत्मानुभूति है आत्मा की अनुभूति नही। छायावाद के अनुभूति-पक्ष की सीमा वहीं तक है जहाँ तक मन की गति है और दार्शनिक पक्ष की जिज्ञासा कुतूहल और विस्मय तक। छायावाद के विस्तृत काव्य-क्षेत्र मे अनेक स्थल हैं जिनमे कवियो की वास्तविक जिज्ञासा व्यक्त हुई है :

(i) न जाने नक्षत्रों से कौन।
निमंत्रण देता रहता मौन—पन्त

(ii) फिर विकल हैं प्राण मेरे,
तोड दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है
जा रहे जिस पंथ से युगकल्प उसका छोर क्या है।
क्यों मुझे प्राचीर बनकर आज मेरे श्वास घेरे।

महादेवी

ये तत्त्व छायावादी कवियो मे न्यूनाधिक अंशों में अवश्य विद्यमान थे इसीलिए प्रसादजी द्वारा 'कामायनी' (विशेष रूप से अन्तिम तीन सर्ग) रची गई, महादेवी जी ऋचाओ के अनुवाद की ओर प्रवृत्त हुईं, पन्तजी ने अरविन्द के आध्यात्मिक दर्शन से प्रभावित होकर 'उत्तरा' आदि अपनी नवीन कृतियाँ प्रस्तुत की और निराला ने 'अर्चना' मे मध्यकालीन भक्त का स्वर अपनाया। किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि समस्त छायावाद आध्यात्मिक भावभूमि पर स्थित समझा जाय। वस्तुतः यह प्रवृत्ति छायावादी कवियो मे छायावाद का युग समाप्त हो जाने के बाद परिलक्षित हो रही है और इसी से प्रमाणित होता है कि छायावादी काव्य आध्यात्मिक काव्य नहीं है।

छायावाद की भावभूमि को लौकिक रूप मे ग्रहण करने के पक्ष में अपना मत देते हुए भी मै एक बात कहना अत्यन्त आवश्यक समझता हूँ और वह यह कि मेरी दृष्टि में दोनो ही मत

वास्तविकता को कुछ-न-कुछ विकृत रूप में प्रस्तुत करते हैं। जहाँ तक आध्यात्मिकता के प्रतिवाद तथा वस्तु सत्य की परख का सम्बन्ध है वहाँ तक तो मानसिक कुण्ठाओं के रूप मे की गई व्याख्या ग्राह्य है, परन्तु छायावादी काव्य में व्यक्त भावों को प्रकृत रूप मे न देखकर दमित वासनाओं और कुण्ठाओं के ही रूप मे देखना उतना ही विकृत है जितना फूलो मे खाद को देखना। फूल धरती के है वे आकाश-कुसुम नही हैं इतना ज्ञान ही पर्याप्त है। छायावादी काव्य मे व्यक्त भावनाएँ भी इसी धरती की भावनाएँ हैं, उतनी ही सामान्य है जितना सामान्य मनुष्य। उनकी आध्यात्मिक व्याख्या करना मनुष्य को स्वर्ग-लोक का प्राणी कहना है।

दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही ग्रहण करना होगा। यदि यह कहने से हीनता व्यंजित करने का अभिप्राय हो तो मैं उसका प्रतिवाद करता हूँ। छायावादी काव्य का सौन्दर्य उसे मानवीय भावों की अभिव्यक्ति मानने पर किसी प्रकार कम नहीं होता। वैज्ञानिक तथ्य को वैज्ञानिकतया ही स्वीकार करना होगा। उसे छायावादी काव्य के मूल्यांकन मे आवश्यकता से अधिक प्रश्रय देना भी उचित नही है।



श्रीमती विजय चोहान

प्रगतिवाद

: १ :

सन् १९३६ मे प्रगतिशील लेखक-संघ के जन्म के साथ भारतीय भाषाओं के साहित्यो मे भी मार्क्सवादी विचार-धारा का प्रभाव मुखर हो उठा। प्राचीन समीक्षा-शास्त्र की बगल में और एक सीमा तक उसके विरोध मे साहित्य का एक नया दृष्टिकोण सामने आया, जिसे आगे चलकर हिन्दी-साहित्य मे 'प्रगतिवाद' के नाम से पुकारा गया। ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से विभिन्न देशो के मार्क्सवादी आलोचक पिछली शताब्दी से ही जिस वैज्ञानिक सौन्दर्य-शास्त्र की रचना करते आए हैं, 'प्रगतिवाद' वस्तुतः उसका ही भारतीय नामकरण है।

साहित्यालोचन के इस नये दृष्टिकोण ने अनेक तात्विक और व्यावहारिक प्रश्न उठाए है और अपने वस्तुवादी जीवन-दर्शन की सहायता से उनका विवेचन करके उनके समाधान भी उपस्थित किये हैं। साहित्य और कला क्या है, और मूल्याकन की समस्या क्या है? इन दो मूल प्रश्नो तथा इनसे सम्बद्ध अनेक दूसरे प्रश्नो को उठाकर 'प्रगतिवाद' ने अपनी वैज्ञानिक स्थापनाओं से साहित्य-शास्त्र को नई दृष्टि दी है।

यह अलग बात है कि अनेक 'प्रगतिवादी' आलोचक अपने वक्तव्यो और विवेचनो मे मार्क्सीय सौन्दर्य-शास्त्र की वैज्ञानिक पद्धति का पालन नहीं कर पाये और विशेष स्थानीय प्रभावो के कारण उनकी आलोचना-दृष्टि पथ-भ्रष्ट होकर मूलतः फ्रांसीसी इतिहासकार 'टेन' (Hippolyte Taine) के सापेक्षतावादी सौन्दर्य सिद्धान्त का अनुगमन करने लगी, जिससे प्रभाव ग्रहण करके रूसी विचारक प्लैखानोफ (Art & Society) ने साहित्य के सम्बन्ध मे मार्क्सीय विचार-धारा को कुत्सित समाजशास्त्रीयता के बीहड़ जंगल में भटका दिया था। इस कुत्सित समाज-शास्त्रीय सापेक्षतावाद ने साहित्य और कला की कृतियों, शैलियों (तथा इससे भी अधिक, जन्म या सामाजिक स्थिति के आधार पर साहित्यकारों—कलाकारों) के वर्ग-आधार को ढूँढ निकालने मे अपने आलोचक-कर्म की इतिकर्तव्यता समझ ली। बहुत दिनों तक मार्क्सवादी आलोचक इस बीहड़ जंगल में भटकते रहे और मार्क्स-लेनिन के कला-सम्बन्धी सिद्धान्तों की उपेक्षा करते रहे। मूल्याकन के नाम पर किसी कृति को मनमाने ढंग से 'सामन्ती', पूँजीवादी (बुर्जुआ) या प्रोलेतेरियन-जैसे तीन-चार खानों में ठूँस ठॉसकर रख देना और कलाकारों को इनमे से किसी-न-किसी वर्ग का प्रतिनिधि घोषित कर देना ही उनके निकट सबसे महत्त्व का प्रश्न बन गया। एक लम्बे सैद्धान्तिक संघर्ष के बाद अन्य देशों के मार्क्सवादी विचारक अपने ही बीच के कुत्सित समाज शास्त्रियो और उनके अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक और कुरुचिपूर्ण दृष्टिकोण को नंगा कर देने में सफल हुए हैं, किन्तु अभी तक हिन्दी में 'प्रगतिवाद' के नाम पर कुत्सित समाज-शास्त्रीयता का ही बोलबाला हैं जिससे प्रगतिवाद के विरोधियों को उस पर गलत आरोप लगाने का अवसर

मिलता गया है।

और यह बात भी अलग है कि 'प्रगतिवादी' दृष्टिकोण से प्रभावित कवियों और कथाकारों ने हिन्दी में जो साहित्य रचा वह कला की दृष्टि से (जिसमें विचार-वस्तु और रूप-तत्त्व अन्योन्याश्रित होते है) बहुधा उच्च कोटि का नहीं हो पाया। बल्कि यदि समग्र रूप से देखें तो रवीन्द्र, शरत्, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र का यथार्थवाद और छायावादी कवियों की मार्मिकता भी इन रचनाओं मे नही है। इसमें जो कोरी 'नारेबाजी का साहित्य' (?) नहीं है वह भी अधिकतर साधारण कोटि का ही है। उसमे जीवन-यथार्थ के उपर से प्रत्यक्ष दीखने वाले अगों का ही यथा-तथ्य (प्रकृत, नैचुरलिस्टिक), रूप-रस-वर्ण-गन्धहीन, उथला-पुथला चित्रण है; जो युग-सत्य का उद्घाटन न करके उसे एकागी और विकृत बना देता है। उसमे जिन पात्रों का चित्रण हुआ है वे प्रतिनिधि मानव-चरित्र (टाइप) नहीं, बल्कि यन्त्रवत् लेखक की इच्छा-अनिच्छा पर उठने-बैठने-बोलने वाली कठपुतलियाँ हैं, जो सजीव न होकर विचारों और वर्गों की 'प्रतीक' हैं। इस नये साहित्य मे नई विचार-वस्तु को अधिकतर ऊपर से ठूँसकर क्रान्तिकारिता का आभास पैदा किया गया है। वास्तव मे उसमे नया कुछ भी नहीं है, वह विचारों को स्फूर्ति और प्रेरणा नहीं देता और न भावनाओं को अधिक संवेदनशील, उदात्त और मानवीय बनाता है, क्योंकि उसमे यथार्थ का वेदन नहीं है। दुर्भाग्य से यशपाल, कृष्णचन्द्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', रागेय राघव, राहुल साकृत्यायन-जैसे प्रमुख कथाकार भी, अपने प्रगतिवादी दृष्टिकोण के बावजूद, इस ह्रासोन्मुखी कला-दृष्टि से अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर पाये। उन्होने भी यह प्रभाव देश-काल की विशिष्ट परिस्थितियो से ही ग्रहण किया है, जिससे वे अपनी कला-सम्बन्धी समस्याओं का सही समाधान खोजने मे एक सीमा तक असमर्थ रहे है।

परन्तु नये साहित्य में या प्रगतिवादी आलोचना मे यदि यह विकृतियाँ आई हैं और किन्ही कारणों से हमारे देश मे आज भी नये साहित्यकार प्रकृत-चित्रण (नैचुरलिज़्म) और अधिकतर प्रगतिवादी आलोचक कुत्सित समाज-शास्त्रीयता की ही ओर बरबस आकृष्ट होते हैं तो इससे 'प्रगतिवाद' के वास्तविक दृष्टिकोण और उसकी साहित्य-कला-सम्बन्धी स्थापनाओं का मूल्य किसी भी अंश मे कम नहीं हो जाता। कुत्सित समाज-शास्त्रीयता की अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक और सापेक्षतावादी प्रवृत्ति केवल एक परिस्थितिजन्य सामयिक विकृति है, जिस प्रकार 'कला के लिए कला' का सिद्धान्त और प्रतीकवाद, प्रकृतवाद, रूपवाद, चित्र-कल्पनावाद आदि की प्रवृत्तियाँ ह्रासोन्मुखी समाज की परिस्थिति जन्य सामयिक विकृतियाँ है। अन्ततः प्रगतिवाद का वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही विजयी होगा, क्योंकि वह ऐतिहासिक भौतिकवादी है और विश्व की श्रेष्ठतम कला और साहित्य की परम्पराओं के सागोपाग अध्ययन-विवेचन के द्वारा विकसित हुआ है और हो रहा है। इसके साथ ही हमारे यहाँ का प्राचीन काव्य-शास्त्र और उसके सिद्धान्त यद्यपि अपने मे सम्पूर्ण दिखते हैं, किन्तु फिर भी न तो वे कला और साहित्य-सम्बन्धी उन मौलिक प्रश्नो का समुचित उत्तर ही दे सकते हैं जिन्हे 'प्रगतिवाद' ने उठाया है और न वे हमें प्राचीन अथवा आधुनिक साहित्य का सही-सही कलात्मक—अतः सामाजिक—मूल्य आँकने की पर्याप्त गहरी ऐतिहासिक तथा सौन्दर्यबोधिनी अन्तर्दृष्टि ही देते है। इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन काव्य-शास्त्र मे अब ऐसे तत्त्व नही रहे जो उपयोगी हों; या नया साहित्यकार अपनी कृति मे रस और काव्यानन्द की सृष्टि न करके उसे नीरस बना दे और नया पाठक उसकी कृति

से मनोरंजन की अपेक्षा ही न रखे; या नये साहित्य के रूप-विन्यास और रचना-तन्त्र मे अलंकार, वक्रोक्ति, गुण और ध्वनि आदि का कलात्मक समाहार निष्प्रयोजन समझा जाय; या नया आलोचक प्राचीन समीक्षा-शास्त्र की शब्दावली को त्यागकर सर्वथा नये शब्द-संकेत गढ़े। प्राचीन मनीषियो और विचारको की देन के प्रति ऐसा नकारात्मक दृष्टिकोण प्रगतिवाद का न था, न है। वस्तुतः प्रगतिवादी विचारको का आरम्भ से ही यह दृष्टिकोण रहा है कि वैज्ञानिक सौन्दर्य-शास्त्र का निर्माण तभी हो सकेगा, जब आदि काल से लेकर आज तक साहित्य-कला-सम्बन्धी जो अनुभव-सिद्ध और मूर्त्त सत्यान्वेषी उद्भावनाएँ होती आई हैं, उन सबका ऐतिहासिक भौतिकवाद के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से एक व्यापक सौन्दर्य-सिद्धान्त के अन्तर्गत समाहार और समन्वय किया जाय।

सम्भवतः इसीलिए प्रारम्भ मे 'प्रगतिवाद' ने अधिकतर वे प्रश्न ही उठाए जो आधुनिक जीवन और आधुनिक कला-साहित्य के विशिष्ट विकास ने अनिवार्य रूप से उपस्थित कर दिए हैं, और जिन पर वैज्ञानिक रीति से विचार करना आधुनिक विज्ञान और ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण ने सम्भव बना दिया है। प्राचीन काव्य-शास्त्र के विवेचक आचार्यो के सम्मुख ये प्रश्न इस रूप मे न उठे थे, न उनका वैज्ञानिक उत्तर दे सकना ही उस समय उनके लिए सम्भव था। ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तो का विवेचन करके प्रगतिवादी सौन्दर्य-शास्त्र उन्हे किस रूप मे और किस सीमा तक ग्रहण कर लेगा, इस बारे मे मैं जल्दी ही कोई मत प्रकट करना उचित नही समझती। यद्यपि यह कह देना अवश्य निरापद होगा कि हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचको ने अपने दायित्व को समझकर अभी तक गम्भीरता से प्राचीन सिद्धान्तो का अध्ययन-विवेचन नही किया है।

: २ :

प्रगतिवाद की दृष्टि मे स्वयं कला क्या है—इस प्रश्न का वैज्ञानिक समाधान पाना ही सबसे मौलिक समस्या है, क्योंकि और सब समस्याओ, जैसे वास्तविकता से कला का क्या सम्बन्ध है, कला-निर्माण की पद्धति क्या है अर्थात् कला मे विचार-वस्तु और रूप-तत्त्व का समन्वय कैसे होता है और कला किस प्रकार वास्तविकता (रियलिटी) को प्रतिबिम्बित करती है, कला का सामाजिक प्रयोजन क्या है और वर्ग-समाज हो या वर्गहीन समाज, श्रेष्ठ कलाकार क्योकर मानव-आत्मा का शिल्पी होता है और इस प्रकार समग्र मानवता का सजग सत्यान्वेषी पक्षधर बनता है तथा इस कर्तव्य से च्युत होकर वह किस प्रकार अपनी कला का ही हनन कर बैठता है आदि सभी समस्याओ का समाधान इस मौलिक प्रश्न के ही आश्रित है।

कला क्या है ?—इस प्रश्न के उत्तर अरस्तू और भरत मुनि के समय से साहित्य-कला के आचार्य देते आए है, किन्तु उनका उल्लेख यहाँ प्रासंगिक न होगा। मार्क्सीय ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से कला भी एक प्रकार की सामाजिक चेतना है, या कहे, कला सामाजिक चेतना का एक विशिष्ट रूप है जिसके माध्यम से मनुष्य का मानस सामाजिक वास्तव (सोशल रियलिटी) को प्रतिबिम्बित करता है। आदि काल से लेकर आज तक की कला और साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हर काल और हर युग में कला वास्तविकता या जगत् के मानसिक बोध का ही साधन रही है। सामाजिक सम्बन्धो मे पड़कर मनुष्य अपने चतुर्दिक् जगत् के बारे मे क्या सोचता-समझता है और सक्रिय रूप से उसे कैसे बदलता है, कला के माध्यम से

उसने अपनी इस सामाजिक चेतना को ही अभिव्यक्ति दी है। सामाजिक चेतना का विशिष्ट रूप होने के कारण कला मनुष्य के सत्य का उद्घाटन करने और उसका बोध कराने का साधन है। मनुष्य का सत्य कोई निर्विकार, निराकार, निरपेक्ष, कालातीत वस्तु नहीं है जो अलग से प्रत्येक मनुष्य मे निहित हो। वास्तव मे बाह्य प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष-रत मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धो का सत्य ही मनुष्य का सत्य है। व्यापक अर्थ मे मानव-जीवन के निरन्तर परिवर्तनशील समाज-सम्बन्धो को ही मनुष्य की चेतना प्रतिबिम्बित करती है।

कलाकार मानवता के संघर्ष का अगुआ है, क्योंकि अधिक संवेदनशील प्राणी होने के कारण वह वास्तविकता के नित्य नये पहलुओं का उद्घाटन करता जाता है और मनुष्य के भाव-विचारो को नई स्फूर्ति, मनुष्य की चेतना को नई संवृद्धि देता हुआ मनुष्य को अधिक मानवीय और सौन्दर्यप्रिय बनाता जाता है। साहित्य और कला का यही प्रयोजन है।

प्रगतिवाद के इस प्रतिबिम्बन के सिद्धान्त को भारतीय प्रतिबिम्बवाद का प्रतिरूप नहीं समझ लेना चाहिए। भारतीय प्रतिबिम्बवाद के अनुसार ब्रह्म बिम्ब है और जगत् उसका प्रतिबिम्ब। किन्तु मार्क्सीय भौतिकवादी दर्शन के अनुसार भौतिक जगत् या वास्तविकता ही बिम्ब है और मनुष्य का मानस या उसकी चेतना उसको प्रतिबिम्बित करके उसका बोध कराती है। साहित्य और कला भी वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है।

प्रगतिवाद के इस प्रतिबिम्बन के सिद्धान्त को किंचित् विस्तार से समझ लेना होगा। इस सिद्धान्त का सम्बन्ध रूपगत प्रकृत चित्रण से नहीं है। अर्थात् श्रेष्ठ कला मे वास्तविकता का प्रतिबिम्ब हू-बहू उसकी अनुकृति नहीं होता। प्राचीन काल मे अफलातून, अरस्तू आदि ने प्रकृत की अनुकृति (इमीटेशन) को ही कला की सचाई की कसौटी माना था। किन्तु यदि ध्यान से देखे तो स्पष्ट हो जायगा कि अनुकरण का सिद्धान्त वस्तुतः रूपवादी है और उसका 'यथार्थ-वाद' कला के रूप-तत्त्व (फॉर्म) तक ही सीमित है। यह वस्तु (ऑब्जेक्ट) का ज्यो-का-त्यो चित्रण कर देने का ही सिद्धान्त है। इस दृष्टि से यदि एक युवती का चित्र है तो उसके नख-शिख का ज्यो-का-त्यों अविकृत खाका खींच देना ही कला की श्रेष्टता का प्रमाण माना जायगा। किन्तु प्रगतिवाद इस प्रकार के यथारूप-चित्रण को एकांगी ही नहीं कला की मूल प्रकृति के विरुद्ध भी समझता है। यद्यपि भौतिक जगत् (वास्तविकता) का अस्तित्व मनुष्य की चेतना पर निर्भर नहीं करता और उसकी स्वतन्त्र इयत्ता है—यानी विषयी (सब्जेक्ट या मनुष्य) से बाहर भी विषय (आब्जेक्ट-प्रकृति) की सत्ता है, लेकिन साथ ही यह भी निश्चित है कि मनुष्य भौतिक जगत् या वास्तविकता का अविच्छिन्न अंग है और इस वास्तविकता को बदलने, अपने अनुकूल बनाने के निमित्त विषयी रूप मे हमारी संवेदनात्मक ऐन्द्रिक क्रियाशीलता का जो प्रतिबिम्ब हमारे मानस पर पड़ता है—उसी से चेतना का जन्म होता है। प्रकृति को बदलने, अपने अनुकूल बनाने वाली इस चिरकालिक क्रियाशीलता का एक अंग ही कला है। कला किसी शाश्वत या परिवर्तनशील प्रकृति की अनुकृति नहीं है कि विषय (ऑब्जेक्ट) के रूप मे मनुष्य निस्संग और निर्विकार मन से उसका मनन-चिन्तन करते रहे; बल्कि वह जीवन की मार्मिक छवियो के द्वारा मनुष्य-समाज के यथार्थ-सत्य का प्रतिबिम्बन करती है। इसलिए प्रगतिवाद यथारूप अनुकृति को नहीं, 'यथार्थवाद' को कला की श्रेष्ठ कसौटी मानता है। यथार्थवाद को इसलिए कि उसका सम्बन्ध कला के रूप-तत्त्व से नहीं, बल्कि विचार-तत्त्व या विषय-वस्तु (कण्टेण्ट) से है। कलाकार

वास्तविकता के किसी विशिष्ट अंग या सत्य का उद्घाटन करने के लिए जिस विचार का प्रेषण करना चाहता है—कला के रूप-तत्त्व की समस्या उसे जीवन की मूर्त और मार्मिक छवियो के द्वारा पूरी तरह अभिव्यक्ति देने और उस विशिष्ट छवि का साधारणीकरण करके उसे सबके लिए अर्थ-वान बनाने की समस्या है। अर्थात् रूप-तत्त्व किसी मूल-विचार (कण्टेण्ट) की अभिव्यक्ति और प्रेषण का ही माध्यम है। इतिहास साक्षी है कि प्राणवान् और श्रेष्ठ कला के निर्माताओं ने यथार्थ या वास्तविकता की किसी परिकल्पना को ही, मानव-जीवन के किसी सत्य या रहस्य को ही उद्घाटित करने के लिए मनोनुकूल रूप-विधानो का आश्रय लिया है। परियो की कथाओं, अन्योक्ति-विधानो और धार्मिक रचनाओ मे भी यथार्थ जीवन का देश-काल-सापेक्ष्य सत्य ही प्रति-बिम्बित हुआ है। यथार्थ केवल वही नही है जो प्रत्यक्ष दिखता है, सीधे तौर पर अनुभवगम्य है, अर्थात् जो वर्तमान मे है। प्रकृति और मानव-जीवन (वास्तविकता) निरन्तर परिवर्तनशील है। उसका अतीत भी है और भविष्य भी। कोई भी वस्तु आत्म-निर्भर नहीं है। असंख्य सीधे और परोक्ष सम्बन्धो-अन्तर्सम्बन्धो द्वारा अन्य वस्तुओं से जुडी हुई है। इसलिए वास्तविकता के यथार्थ को कलात्मक रूप से प्रतिबिम्बित करने का तात्पर्य यह है कि कलाकार जिस केन्द्रीय विचार को अभिव्यक्ति देना चाहता है उसका वैविध्यपूर्ण, सर्वागीण, अन्तरंग और मूर्त्त चित्रण करे ताकि वह केन्द्रीय विचार अपने समस्त अन्तर्सम्बन्धो के साथ उद्घाटित हो जाय। श्रेष्ठ कला के निर्माण की यही प्रणाली है, और कोई नहीं। प्रेमचन्द ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' को श्रेयस्कर माना था। प्रकृतवाद या यथार्थ के फोटोग्राफिक हू-बहू चित्रण को अक्सर 'यथार्थवाद' की सज्ञा दी जाती रही है, क्योंकि इस प्रकार केवल कला के रूप-तत्त्व (फॉर्म) से ही उसका सम्बन्ध जोड़ देने से उस पर सहज ही आक्रमण किया जा सकता है। प्रेमचन्द ने इसीलिए 'यथार्थवाद' के साथ 'आदर्शोन्मुखता' का संयोग किया था, क्योंकि एक श्रेष्ठ कलाकार होने के नाते वे केवल वास्तविकता के उस रूप से ही सन्तुष्ट न थे जो 'है' बल्कि उसके सत्य का उद्घाटन करने के लिए यह दिखाना भी जरूरी समझते थे कि वह 'क्या था' और क्या होने वाला है या 'होना चाहिए।' वास्तव मे यही 'यथार्थवाद' है, क्योंकि वास्तविकता गतिशील है। हमारे एक प्रगतिवादी (या कुत्सित समाज-शास्त्री) आलोचक[1] हैं, जो इस बात को न समझ पाकर 'आदर्शोन्मुख' शब्द का प्रयोग करने के लिए प्रेमचन्द पर ही पिल पड़े। उन्होने इस बात का भी ध्यान न रखा कि दार्शनिक विचार-धारा के रूप मे 'आदर्शवाद' का जो अर्थ है, साधारण प्रयोग मे 'आदर्शवाद' का अर्थ उससे सर्वथा भिन्न है। एक जगह आदर्शवाद का अर्थ अध्यात्मवाद है तो दूसरी जगह उसका अर्थ कोई मानवीय नैतिक-सामाजिक लक्ष्य-मात्र है। प्रेमचन्द ने इस दूसरे अर्थ मे ही इस शब्द का प्रयोग किया था, क्योंकि वे सम्भवतः यह न जानते थे कि 'यथार्थवाद' के अन्दर यथार्थ जीवन की सम्भावनाएँ भी निहित हैं। उदाहरण के लिए 'वर्गहीन साम्यवादी समाज' की ओर इतिहास प्रगति कर रहा है तो वह हर देश की शोषित-पीडित मानवता का लक्ष्य भी है, और आदर्श भी। इसलिए एक सच्चा कलाकार जब वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करता है तो यथार्थ रूप मे, अर्थात् दैनन्दिन जीवन मे जो-कुछ साधारणतः घटित होता रहता है उस सबको ज्यों-का-त्यों नहीं चित्रित कर देता, बल्कि ऐतिहासिक सम्भावना की दृष्टि से यथार्थ के सत्य को उद्घाटित करने के लिए जो भी सारपूर्ण हैं, प्रासंगिक हैं, केवल उन्हीं अंगों का चयन

१. डॉ० रामविलास शर्मा—देखिए उनकी पुस्तक 'प्रेमचन्द'

करता है। वस्तुतः कला की भाषा जीवन और इतिहास की भाषा होती है।

मनुष्य की चेतना के विशिष्ट रूप होने के नाते कला और विज्ञान दोनों ही भौतिक जगत् को प्रतिबिम्बित करते हैं और सत्य का बोध करने के साधन हैं। मनुष्य की चेतना निरपेक्ष सत्य (एब्सोल्यूट ट्रुथ) का बोध प्राप्त करने में समर्थ है—निरपेक्ष सत्य सापेक्ष्य सत्यों के समाहार का ही परिणाम होता है। इससे यह दोनों बातें सिद्ध हैं कि (१) वास्तविकता में मूलतः कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जिसको मनुष्य की चेतना प्रतिबिम्बित नहीं कर सकती और उसे 'नेति-नेति' की आर्त्त घोषणा करनी पड़े तथा (२) अपने सक्रिय जीवनानुभव और ज्ञान की सहायता से मनुष्य की चेतना वास्तविक जगत् को प्रतिबिम्बित नहीं करती तो वह निस्सार, शून्य और खोखली ही बनी रहती है। इससे स्पष्ट है कि कला और विज्ञान, जो वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करते हैं, यदि ऐसा न करते होते या न करें तो वे अर्थवान् नहीं बन सकते। 'कला के लिए कला' के नाम पर केवल रूप-तत्त्व को प्रधानता देने वाले जो अनेक प्रवाद खड़े किये जाते रहे हैं, उनकी निरर्थकता स्वयं-सिद्ध है।

कला और विज्ञान यद्यपि इस जगत् और जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करते हैं, परन्तु दोनों की प्रतिक्रियाएँ भिन्न हैं। विज्ञान 'विचारों' के रूप में वास्तविकता का बोध कराता है तो कला मार्मिक और अर्थवान् छवियों या जीवन-चित्रों के रूप में। विज्ञान अलग-अलग (विशिष्ट) तथ्यों का निरीक्षण करके उनके आधार पर सामान्य नियमों की खोज करता है, क्योंकि इन नियमों की जानकारी बाह्य प्रकृति को बदलने, नियन्त्रित करके अपने लिए उपयोगी बनाने में सहायक होती है और इस प्रकार मनुष्य की समस्त क्रियाशीलता का आधार और उत्तरोत्तर प्रकृति के अन्ध प्रकोपों से उसकी मुक्ति का साधन बनती है। इसके विपरीत कला विचारों की अमूर्त्त भाषा में नहीं बल्कि अर्थवान् मार्मिक छवियों या जीवन-चित्रों की भाषा में वास्तविक जगत् में होने वाली घटनाओं या उनमें भाग लेने वाले मानव-चरित्रों के सक्रिय, अन्तरंग और वैविध्य-पूर्ण चित्र अंकित करके और उनके ही माध्यम से सामान्य या प्रतिनिधि रूपों का उद्घाटन करती है। तात्पर्य यह कि विज्ञान यदि विशिष्ट तथ्यों को अमूर्त विचारों द्वारा सामान्य (जनरल) के रूप में उपस्थित करके उनकी इयत्ता को सिद्ध और प्रमाणित करता है तो कला सामान्य विचारों और धारणाओं को मूर्त्त, व्यक्ति-चित्रों के रूप में अंकित करती है जिससे अपने गुणों और चारित्रिक विशेषताओं के साथ वस्तुओं, घटनाओं और व्यक्तियों की निश्चित, मूर्त्त और विशिष्ट छवियाँ दर्शनीय और संवेदनीय हो उठें। कला इस प्रकार विशिष्ट के माध्यम से साधारण (रवीन्द्रनाथ के शब्दों में ससीम में ही असीम) की उपलब्धि कराती है।

इसके अतिरिक्त कला और विज्ञान में एक और उल्लेखनीय भेद है। विज्ञान का कोई सिद्धान्त या उसकी कोई भी स्थापना उससे अधिक व्यापक और प्रयोगसिद्ध सिद्धान्त या स्थापना द्वारा रद्द की जा सकती है, किन्तु कला के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक कलाकृति अपने-आपमें सम्पूर्ण, अविभाज्य इकाई होती है और इसी रूप में इतिहास में अमर होती है। यह ठीक है कि देश-काल की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में लोग उससे भिन्न-भिन्न अर्थ और प्रभाव ग्रहण करते हैं, लेकिन उसकी प्रेरणा देने की शक्ति अपनी सम्पूर्णता और अविभाज्यता में ही निहित है। कला के क्षेत्र में नये प्रयोगों और नई कृतियों के निर्माण से उसका सौन्दर्य या सत्य नष्ट नहीं हो जाता कि उसे रद्दी की टोकरी में फेंक दिया जाय। उदाहरण के लिए पृथ्वी के चारों

और सूर्य घूमता है—किसी युग के विज्ञान की यह स्थापना चाहे गलत सिद्ध होकर आज व्यर्थ हो गई हो, लेकिन वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और तुलसीदास के काव्य-ग्रन्थ या अजन्ता के चित्र इतने युग बीत जाने पर भी व्यर्थ और निरर्थक नही हुए, न कभी होगे। इतना ही नही, यदि एक ही विषय को लेकर बहुत कलाकार रचना करे तो उनकी कृतियाँ एक-दूसरे से सर्वथा मौलिक हो सकती हैं और वास्तविकता के विविध पहलुओ का उद्घाटन कर सकती है और उन सब रचनाओ से मानव-संस्कृति समृद्ध हो सकती है। कारण स्पष्ट है कि कला मे अनन्त वैविध्यशालिनी वास्तविकता का कल्पनाजन्य, सवेदनात्मक प्रतिबिम्बन होता है, और वास्तविकता की ही तरह कला-कृति का निर्माण व्यक्ति-छवियो के अन्तर्सम्बन्धो और क्रिया-प्रतिक्रियाओ से ही होता है।

कला और विज्ञान के इन भेदों को इससे अधिक आगे बढ़ाकर देखना उचित न होगा, क्योंकि वैज्ञानिक या कलात्मक चेतना का सामान्य माध्यम मनुष्य के इन्द्रियज-संवेदन ही है जो बाह्य वास्तविकता का बिम्ब ग्रहण करके उसे पुनः प्रतिबिम्बित करते है। अर्थात् इस द्वैत की कल्पना कर लेना एक प्रवचना को जन्म देना होगा कि कला की विषय-वस्तु केवल मनुष्य के भाव हैं और विज्ञान की विषय-वस्तु केवल मनुष्य के विचार है—एक की सत्ता भाव-पक्ष तक सीमित है और दूसरे की सत्ता केवल बुद्धि पक्ष तक। इसका यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि कला मे विचार-वस्तु होती ही नहीं, उसके द्वारा मनुष्य चेतना के तल पर वास्तविकता का बोध नहीं करता, बल्कि ऐन्द्रिक संवेदनो के तल पर ही उसकी अनुभूति करता है। प्रगतिवाद कलाकार की सृजन-प्रक्रिया तथा कला-कृति दोनो के लिए ऐन्द्रिक-संवेदनों तथा अनुभूति के आत्यन्तिक महत्त्व को तो स्वीकार करता है लेकिन इस अनिवार्य माध्यमिक तत्त्व को कला का मूल तत्त्व या सार तत्त्व नहीं मानता। प्रगतिवाद के अनुसार ये प्राथमिक कोटि के सहज संवेदन और अनुभूतियाँ मनुष्य के लिए तभी अर्थवान् और सुन्दर बनती हैं, जब वे पाशविक धरातल से ऊँची उठकर मानवीय बन जायँ, अर्थात् वास्तविकता के किसी सत्य को मूर्त्त अभिव्यक्ति दें।

कला की समस्या, इसीलिए, अर्थवान् और मार्मिक छवियो के माध्यम से वास्तविकता का सारपूर्ण चित्रण करने की समस्या है। विचार-वस्तु (कण्टेण्ट) की दृष्टि से इसका तात्पर्य है कि वास्तविकता के केवल सारपूर्ण प्रसंगों और तत्त्वो को ही चयन करके उपस्थित किया जाय, न कि इन्द्रिय-बोध से जो कुछ भी दिखाई दे, उस सबकी हू-ब हू नकल उतारी जाय। रूप-तत्त्व (फार्म) की दृष्टि से इसका तात्पर्य है कि वास्तविकता के इन सारपूर्ण प्रसंगो को सजीव ढंग से, उनके गुण और चारित्रिक विशेषताओ के साथ चित्रित किया जाय, ताकि वे सबके लिए अर्थवान् हो जायँ। कला के रूप तत्त्व की समस्या विचार-वस्तु की अपेक्षा से ही कोई अर्थ रखती है। कलाकार का जो 'विचार' है, उसे वह कैसे कलात्मक रूप से व्यक्त करे कि वह सबके लिए प्रेषणीय बन जाय। प्रगतिवाद साधारणीकरण के प्रश्न को इस रूप में ही पेश करता है।

कलाकार मर्म छवियो के माध्यम से ही अपने विचार को मूर्त्त और कलात्मक बनाता है, इसलिए हम मर्म-छवि को पहले समझ लें। मर्म-छवि क्या होती है? मर्म-छवि वास्तव मे विशिष्ट और सामान्य (पर्टीकुलर और जनरल) की इकाई होती है। 'यह गुलाब का फूल है' —इसमें व्यक्तिवाचक और जातिवाचक दोनो संज्ञाओं का द्वन्द्वात्मक योग है। वस्तुतः दोनो ही एक है। विशिष्ट मे ही सामान्य है। सामान्य विशिष्ट मे है और उसी के द्वारा है। हर सामान्य विशिष्ट का ही एक अंग या पहलू होता है। प्रत्येक विशिष्ट असंख्य सूत्रों द्वारा दूसरे

विशिष्टों से सम्बद्ध होता है। विशिष्ट और सामान्य परस्पर-विरोधी हैं, अर्थात् उनका आन्तरिक संघर्ष नित्य है। उन दोनों में एकता स्थापित होती है, पर यह एकता अस्थायी, सापेक्ष्य परिस्थितिजन्य और अनित्य होती है। यह वास्तविक जगत् का नियम है। कला की दृष्टि से मर्म-छवि का अर्थ यह है कि कलाकार अपने चित्र में विशिष्ट और सामान्य की इस क्षण-कालिक, सापेक्ष्य तथा परिस्थितिजन्य एकता को चिरकाल के लिए अंकित कर देता है जिससे यह चित्र पाठक या दर्शक को संतोष प्रदान करता है। लेकिन यह चित्र तभी अर्थवान् और सम्पूर्ण बनता है जब वह इन परस्पर-विरोधी तत्त्वों के चिरन्तन संघर्ष को भी साथ ही उद्घाटित करे, ताकि उसकी कला-कृति संतोष प्रदान करने के साथ ही विचारोत्तेजक भी हो, और मनुष्य को इन दोनों तत्त्वों की और भी गम्भीर तथा सारपूर्ण एकता स्थापित करने के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दे। उदाहरण के लिए उपन्यास-साहित्य में मर्म-छवि का अर्थ होगा ऐसे सजीव, विशिष्ट मानव-पात्रों की सृष्टि करना, जिनसे वास्तविक जीवन की आभा विकीर्ण होती हो, जो केवल कठपुतली पात्र न हों, अर्थात् उन व्यक्ति-पात्रों के चरित्र, उद्योग और उनकी नियति में मानव-जीवन की वास्तविक नियति पूरी तरह अन्तर्निहित हो, जिससे वे अपनी विशिष्टता में ही सामान्य के प्रतिनिधि मानव-चरित्र (टाइप) बन सकें। प्राचीन महाकाव्यों के विशिष्ट पात्र—युधिष्ठिर, दुर्योधन, अर्जुन, द्रौपदी, कृष्ण, भीष्म, कर्ण, राम, भरत, रावण, सीता, दमयन्ती आदि, कालिदास, शेक्सपियर, गेटे, मौलियर, बाल्जक, ताल्स्ताय, गोर्की, रवीन्द्र, शरत्, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के अनेक पात्र ऐसे ही प्रतिनिधि मानव-चरित्र हैं जो मनुष्य के साहस, औदार्य, प्रेम, न्याय, सौन्दर्य, हीनता, असमंजस, भीरुता, नृशंसता, कायरता आदि के देश-काल-सापेक्ष्य गुणों और चारित्रिक विशेषताओं के प्रतीक हैं। अपने सीमाबद्ध जीवन की परिस्थितियों से उनका संघर्ष मनुष्य के ऐतिहासिक मुक्ति-संघर्ष का प्रतीक है। इसीलिए उनके हर्ष-विमर्ष, सफलता-असफलता, उत्साह-निराशा से प्रत्येक पाठक न्यूनाधिक मात्रा में अपने विशिष्ट जीवन और भाग्य की समस्याओं की झलक पा लेता है। इस प्रकार कला में साधारण (जनरल) का चित्रण व्यक्ति-पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के माध्यम से ही होता है। बाह्य जीवन निश्चित परिस्थितियों से जूझते हुए व्यक्ति-विशेष की निश्चित मनःस्थितियों और भाव-विचार-प्रतिक्रियाओं का उद्घाटन ही 'साधारण' (जनरल या कलाकार के मूल विचार) को इस योग्य बनाता है कि पाठक या दर्शक उसकी सचाई पर विश्वास कर ले और उससे स्फूर्ति और प्रेरणा ग्रहण कर सके।

कला-कृतियों के रूप में या उनके द्वारा ही हम कला का साक्षात् करते हैं। कला-कृतियों के निर्माता कलाकार होते हैं। प्रगतिवाद सच्चे कलाकार को (अर्थात् उसे जिसने वास्तव में अमर कला-कृतियों की रचना की है या जो आज भी कर रहे हैं) मानव-आत्मा का शिल्पी मानता है, क्योंकि कला और साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अपनी रची श्रेष्ठ और अमर कला-कृतियों द्वारा इन कलाकारों ने, वे चाहे जिस वर्ग या समाज, देश या काल में क्यों न पैदा हुए हों, समग्र मानवता की संस्कृति को समृद्ध किया है और मनुष्य को अपने दैनंदिन जीवन की क्षुद्रताओं और सीमाओं से ऊपर उठकर अधिक मानवीय, सत्यान्वेषी, सौन्दर्य प्रेमी, नैतिक और सामाजिक मानव बनने की प्रेरणा दी है, और किसी-न-किसी रूप में मनुष्य अपने ऐतिहासिक मुक्ति-संघर्ष में उनसे सदा ही ऐसी प्रेरणाएँ लेते जायँगे। इसी तात्त्विक दृष्टि से प्रगतिवाद एक सच्चे कलाकार को स्वभावतः प्रगतिशील मानता है। पर एक सच्चे कलाकार या मानव आत्मा के

शिल्पी का गौरवशाली पद किसी व्यक्ति को तभी मिला है या मिल सकेगा जब वह अपनी कला-कृति से जीवन-वास्तव को प्रतिबिम्बित करके उसके किसी-न किसी ऐतिहासिक सत्य को उद्घाटित करता है या भविष्य में करेगा।) इसी अर्थ में सच्चा कलाकार मानवता का पक्षधर होता है। वह जीवन का निरंग द्रष्टा नहीं सक्रिय चितेरा होता है, यानी मनुष्य के सामने देश-काल की परिस्थितियो के अनुसार इतिहास सामाजिक विकास की जो नई-नई सभावनाएँ पैदा करता जाता है और उनसे मनुष्य के कर्म-जीवन में जो नई-नई समस्याएँ उठती जाती हैं, सच्चा कलाकार इस यथार्थ को कलात्मक अभिव्यक्ति देकर मनुष्य को अपने जीवन की यथार्थ समस्याओ और सम्भाव्य समाधानो का साक्षात् कराता है, और इस प्रकार मनुष्य को कर्म की प्रेरणा देता है।

: ३ :

ऊपर के विवेचन मे हमने प्रगतिवाद के दृष्टिकोण से कला क्या है, वास्तविकता से कला का क्या सम्बन्ध है, कला किस प्रणाली से वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करती है, कला मे विचार-तत्त्व और रूप-तत्त्व का संयोग किस प्रकार होता है तथा कलाकार क्योकर मानवता की प्रगतिशील शक्तियो का पक्षधर होता है, इस मौलिक प्रश्नो का उत्तर देने का प्रयास किया है। अब हम इस दृष्टिकोण से मूल्यांकन के प्रश्न को सक्षेप में समझ लेना चाहेगे, क्योकि कुत्सित समाज-शास्त्रियो ने प्रगतिवादी दृष्टिकोण को व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र मे ही सबसे ज्यादा विकृत और एकागी बनाया है।

मूल्यांकन की समस्या क्या है? इस समस्या के दो पहलू है। (१) साहित्य और कला की प्राचीन कृतियाँ आज भी क्यो मूल्यवान् है अर्थात् हमे सौन्दर्य-बोध कराने और प्रेरणा देने मे क्यों समर्थ है और आगे भी रहेगी, तथा (२) आधुनिक युग मे इतनी प्रचुर मात्रा से जो साहित्य रचा जा रहा है उसमे कौनसी कृतियाँ स्थायी महत्त्व की हैं, अर्थात् समग्र रूप से जीवन का वैविध्यपूर्ण, गम्भीर, यथार्थ और मूर्त चित्रण करने के कारण महान् हैं (क्लासिक है) उनकी पहचान करके उनके सही-सही मूल्य को कूतना। मूल्यांकन की वास्तविक समस्या यही है। आज की तरह प्राचीन युगो मे भी एक ही समय में सैकडो कवि और कलाकार साहित्य-कला के निर्माण मे संलग्न रहे हैं, लेकिन जिनमें श्रेष्ठ कलाकार की प्रतिभा न थी, उनकी मात्र सामयिक महत्त्व की कृतियाँ अपने-आप ही काल कवलित हो चुकी हैं और आज हमे प्राचीन से विरासत के रूप मे जो कृतियाँ प्राप्त है, उनमें से कौन स्थायी महत्त्व की हैं और कौन केवल सामयिक महत्त्व की—यह प्रश्न आज हमारे सामने नहीं है। यदि कोई प्रश्न है तो केवल यह कि जो कृतियाँ हमे प्राप्त हैं उनकी सच्ची महत्ता क्या है? या फिर खोज का प्रश्न है ताकि सामयिक अरुचि के कारण कोई वास्तविक रूप से महान् कृति उपेक्षित न पडी हो या खो न गई हो। परन्तु जिस साहित्य और कला का निर्माण इस युग मे हो रहा है, उसमे कौन वास्तव में श्रेष्ठ और स्थायी महत्त्व की है और कौन केवल सामयिक महत्त्व की, साहित्य और कला के आलोचक के ऊपर उन्हें पहचानकर बताने का दायित्व है। तभी वह श्रेष्ठ कला के विकास में और इस प्रकार मानव-संस्कृति और मनुष्य-मात्र के मुक्ति-संघर्ष की प्रगति मे सक्रिय योग दे सकता है।

किन्तु मूल्यांकन की यह समस्या दो कारणो से जटिल बन गई है। एक ओर तो कला-वादी है जो रूपगत सापेक्षतावाद का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं, दूसरी ओर कुत्सित समाज-

शास्त्री हैं जो कला के वर्ग-आधार के सिद्धान्त को विकृत करके एक दूसरे ही प्रकार का सापेक्षतावाद प्रचारित करते हैं। इन दोनों के कथन या दृष्टिकोण एकांगी हैं, इसीलिए असत्य है।

कलावादियों की दृष्टि मे कला की श्रेष्ठता को जाँचने की कोई सामान्य (जनरल या ऐब्सोल्यूट) कसौटी नही हो सकती। हर युग की कला की रूप-शैली भिन्न होती है तो उसकी श्रेष्ठता की जाँच करने की कसौटियाँ भी उस युग की परम्परा और कला-रुचि के अनुकूल ही होती हैं। दूसरे युग मे कला-शैली बदलती है, तो उसके सौन्दर्य की परख करने वाली कसौटियाँ भी बदल जाती हैं और पाठक या दर्शक की रुचियाँ भी। इसलिए अजन्ता की चित्र-कला को जाँचने के लिए जो मानदण्ड उन दिनो प्रचलित थे उनसे आधुनिक युग की चित्र-कला को जाँचना सम्भव नही है और न आधुनिक मानदण्डो से अजन्ता की चित्र-कला को जाँचना ही सम्भव है। उसको उस युग के मानदण्डो से ही पसन्द किया जा सकता है।

इससे भिन्न, किन्तु मूलतः सापेक्षतावादी दृष्टिकोण कुत्सित समाज शास्त्रीयता का है जो प्रगतिवाद या मार्क्सवाद की रामनामी ओढ़कर सामने आता है। वह दृष्टिकोण कला की भिन्न-भिन्न शैलियो और प्रवृत्तियो की ऐतिहासिक व्युत्पत्ति की खोज करने के लिए तत्कालीन समाज की वर्ग-व्यवस्था का विश्लेषण करता है, और उसी की सापेक्षता मे उनको जाँचता है या अधिक गम्भीरता का उपक्रम करके 'युग की सामान्य चेतना' से उनका सम्बन्ध जोडता है। और अधिक विकृत होकर यह दृष्टिकोण कला-कृतियो का वर्ग-आधार खोजने के लिए उनके निर्माता कलाकारो और साहित्यकारो ने जिस वर्ग मे जन्म लिया होता है, उसका हवाला देना मात्र ही जरूरी समझता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि कलाकार जिस वर्ग मे जन्म लेता है; वह उस वर्ग की चेतना को ही व्यक्त करता है। इस प्रकार चूँकि बीते युगो के कलाकार अधिकतर अभिजात वर्गों मे ही पैदा हुए या उन्होने अपनी जीविका के लिए अभिजात वर्गों की नौकरी की या दरबारो का आश्रय लिया, इसलिए उनकी कला भी सामन्ती या पूँजीवादी आदि है। इसलिए इस दृष्टि से कला का मूल्य जाँचने की कोई सामान्य कसौटी नही हो सकती, क्योकि जीवन के प्रति सामन्ती दृष्टिकोण कुछ और था और अब पूँजीवादी दृष्टिकोण कुछ और, और समाजवादी दृष्टिकोण कुछ और है। सच्ची कला का तो अभी जन्म ही हुआ है, किन्तु वह वर्ग-मुक्त समाज मे ही पूरी तरह विकास करेगी, जब श्रमजीवी जनता के बीच से लेखक और कलाकार उत्पन्न होंगे। इस समय तो आलोचक का काम प्राचीन और आधुनिक लेखको के गले मे तख्ती लटकाकर उनको वर्ग-खूँटे से बाँध देना भर है। इसके अतिरिक्त जहाँ तक रुचियो और शैलियो का या सौन्दर्य की जाँच का प्रश्न है, कला की रुचियाँ, शैलियाँ और मनुष्य की सौन्दर्य-दृष्टि बदलती ही नही रहती, बल्कि अभिजात वर्ग के लिए जो सुन्दर है, श्रमजीवी-वर्ग के लिए वही असुन्दर है, कर्म-जीवन से तटस्थ, केवल काम क्रीडा की वस्तु नारी के कोमल अंग, क्षीण कटि और पतली-लम्बी मुलायम उँगलियों का अभिजात आदर्श श्रमिक और किसान नारी के पुष्ट अंग और रूक्ष मजबूत हाथो के आदर्श से सर्वथा भिन्न है। अतः सौन्दर्य को जाँचने की कोई सामान्य कसौटी नही हो सकती।

इस प्रकार रूपवादी और कुत्सित समाज-शास्त्री दोनो ही अपने एकांगी सापेक्षतावादी दृष्टिकोणों के कारण मूल्यांकन के वास्तविक प्रश्न से कतराते हैं। उदाहरण के लिए कुत्सित समाज-शास्त्री यदि कभी दो कलाकारो की तुलना करते है, तो अजब भौंडी मनोवृत्ति का परिचय देते हुए मनगढन्त आधार पर प्रेमचन्द को गोर्की और तॉलस्तॉय से महान् सिद्ध करने की कोशिश

करते हैं, क्योंकि गोर्की में 'आवारापन'[1] और तॉलस्तॉय में 'अध्यात्म'[2] के प्रति मोह था; या भारतेन्दु को शेक्सपियर के मुकाबले से श्रेष्ठ ठहराते हैं, क्योंकि शेक्सपियर 'सामन्तीवर्ग' का प्रतिनिधि कलाकार था और उसकी कला 'ह्रासोन्मुखी' थी जब कि भारतेन्दु जनता के कलाकार थे,[3] या शरत् को 'मध्यवर्गी' कथाकार और पन्त को स्त्रैण तथा प्रतिक्रियावादी आदि[4] सिद्ध करते है। किन्तु साहित्य के मूल्यांकन का प्रश्न इतना सरल नही है।

इन दोनों दृष्टिकोणों में आंशिक सत्य है। यह सच है कि कला की शैलियाँ, रुचियाँ, रूप-विधान आदि बदलते रहते हैं। यह भी सच है कि वर्ग-समाज में पैदा हुए कलाकार के संस्कार एक-न-एक सीमा तक अपने वर्ग की मान्यताओं से प्रभावित होते हैं। किन्तु इतना ही सत्य नही है। एक कलाकार की सम्पूर्ण चेतना (कलाकार ही क्यों, किसी भी व्यक्ति की सम्पूर्ण चेतना) केवल अपने वर्ग की चेतना तक ही सीमित नहीं रहती। कला, विज्ञान और दर्शन के रूप में ज्ञान की जो पुञ्जीभूत राशि है, एक कलाकार उसके सम्पर्क में भी आता है तथा साथ ही कला-साहित्य की पूर्व-परम्परा, अपने तत्कालीन समाज के विभिन्न वर्गों के द्वन्द्व-जनित पारस्परिक सम्बन्धों से उत्पन्न लोक-चेतना, और अन्य देशों की कला-संस्कृति, जिनसे उस कलाकार का देश असख्य आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों में पड़कर विनिमय करता है, वह प्रभाव ग्रहण करता है। इसलिए यह सत्य नहीं है कि वह जिस वर्ग में पैदा होता है, उसकी ही विचार-धारा को व्यक्त करता है, और यदि कोई वर्ग या युग ह्रासोन्मुखी है तो उसकी कला भी अनिवार्यतः ह्रासोन्मुखी ही होगी। कला-साहित्य का इतिहास तो यह बताता है कि महान् कलाकार अनिवार्यतः अपने समय की विचार-सीमाओं से आगे के द्रष्टा रहे हैं। स्पष्ट है कि उन्होंने जो 'है' से आगे बढ़कर इतिहास की गति को पहचानते हुए, जो 'होना है' या 'होना चाहिए' की दृष्टि से जीवन-यथार्थ को रूपान्वित किया है। साथ ही इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि समाज की ह्रासोन्मुखता या प्रगतिशीलता के साथ कला की प्रगति या अधोगति का सीधा सम्बन्ध नही है। इसके विपरीत अक्सर ऐसा हुआ है कि ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील युगों में कला का ह्रास हुआ है, और ह्रासकालीन समाजों ने महान् कला को जन्म दिया है। इस आधार पर ही मार्क्स ने कहा था पूँजीवादी युग (जो इतिहास की अपेक्षा बर्बरता, दासता या सामन्तवाद के युगों से अधिक उन्नत युग है) श्रेष्ठ कला के निर्माण के लिए अनुकूल युग नहीं है।

एक कलाकार और उसकी चेतना यद्यपि युग-सापेक्ष्य होती है, क्योंकि वह किसी-न-किसी युग-विशेष में ही जन्म लेता है और देश-काल की परिस्थितियों और विचार-धाराओं से अछूता नहीं रह सकता, फिर भी चूँकि वह वास्तविकता के किसी सारपूर्ण अंग या सत्य का चित्रण करता है, इसलिए उसका वस्तुनिष्ठ (ऑब्जेक्टिव) मूल्यांकन भी सम्भव है। जिस प्रकार व्यक्ति में, समष्टि और विशेष में साधारण होता है, उसी तरह सापेक्ष्य में भी निरपेक्ष निहित रहता है। मार्क्सवादियों और कुत्सित समाज शास्त्रियों को प्रगतिवाद का यह उत्तर है कि यद्यपि कलाकार अपनी कला-कृति के निर्माण के लिए, अपने जीवन-काल की परिस्थितियों से आबद्ध रहने के

१, २. देखिए डॉ० रामविलास-कृत 'प्रेमचन्द', प्रथम संस्करण।
३. देखिए डॉ० रामविलास-कृत 'भारतेन्दु युग', प्रथम संस्करण।
४. देखिए डॉ० रामविलास के फुटकर लेख।

कारण सापेक्ष मानदण्डो का ही प्रयोग करता है, लेकिन बिना निरपेक्ष के सापेक्ष की कल्पना ही असम्भव है, वह सापेक्ष भी किसी निरपेक्ष की अपेक्षा मे ही होता है और इन दोनो का सम्बन्ध भी सापेक्ष ही होता है। उदाहरण के लिए हिन्दी के भक्ति-काव्य को ले। भक्ति-भावना मध्य युग की सामान्य लोक-चेतना का माध्यम थी। भक्त कवियो ने इस सापेक्ष माध्यम को ही अपनाया, किन्तु भक्ति-काव्य के माध्यम से जिन कवियो ने जीवन-वास्तव और तत्कालीन समाज-सम्बन्धों के सत्य को जितनी ही गहराई और कलात्मक छवियो के रूप मे व्यक्त किया है उस हद तक ही, उस युग-सापेक्ष भावना मे जीवन का ऐतिहासिक सत्य प्रतिबिम्बित हुआ है। इसी आधार पर प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन की सामान्य वस्तुनिष्ठ कसौटी बन सकती है। प्रगतिवाद सापेक्ष और निरपेक्ष इन दोनो कसौटियो पर परखकर किसी कला-कृति का मूल्य आँकता है। इन दोनों कसौटियो पर न परखने से किस आधार पर निर्णय किया जा सकता है कि तुलसीदास (राम-भक्ति के बावजूद) महान् कलाकार है और जैनेन्द्रकुमार (गाधीवादी विचार-धारा के बावजूद) प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के सबसे बड़ा कथाकार हैं और उनकी कृतियाँ हिन्दी-कथा-साहित्य और इस प्रकार विश्व-साहित्य की स्थायी निधि हैं ? कला यदि वास्तविकता को प्रति-बिम्बित करती है, तो वास्तविकता ही कला की साधारण कसौटी है, जिसकी अपेक्षा हमे उसका मूल्यांकन करना चाहिए। जो कलाकार वास्तविकता के किसी सारपूर्ण यथार्थ को प्रतिबिम्बित नहीं करता उसकी कला निर्जीव होती है और जो आलोचक मूल्यांकन से कतराते हैं उनकी आलोचना सत्यान्वेषी और रचनात्मक न होकर निरर्थक होती है। कला की शैलियाँ, प्रवृत्तियाँ या युग की विचार-धाराएँ सापेक्ष मानदण्ड हैं। केवल उनके आधार पर ही सही-सही मूल्यांकन कर पाना सम्भव नही है, क्योंकि इस प्रकार हम अन्ततोगत्वा अपने रुचिगत या विचारगत पूर्वग्रह को ही कला-कृति का मूल्य आँकने के लिए आरोपित करते हैं।

कला क्या है और मूल्यांकन की वास्तविक समस्या क्या है, इन प्रश्नो पर प्रगतिवाद का यही दृष्टिकोण है।



डॉ० हरदेव बाहरी

हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास

हिन्दी को आर्यकुल की एक आधुनिक भाषा माना गया है और इसका सम्बन्ध अपभ्रंश, प्राकृत, संस्कृत और वैदिक तक जोड़ा जाता है। परन्तु यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि इसमें कितना अंश आर्य है और कितना अनार्य। शुद्ध आर्य भाषा तो वह भी नहीं है जो आदि-ग्रन्थ ऋग्वेद में सुरक्षित है। वेदों की भाषा में अनेक देशी और विदेशी शब्दों का सम्मिश्रण अवश्य हुआ होगा। ऋग्वेद ही के आधार पर कहा जा सकता है कि आर्यों की बोलचाल की भाषा का रूप बदल रहा था। ब्राह्मण-ग्रन्थों और आरण्यकों के अध्ययन से विदित होता है कि लौकिक भाषाओं के भेद-विभेद बढ़ते जा रहे थे। इसके तीन कारण हो सकते हैं—(१) कालगति से भीतर-ही-भीतर भाषा में परिवर्तन, (२) समय-समय पर आने वाले आर्य-कबीलों द्वारा लाये हुए उन-उन प्रदेशों के प्रभाव—जहाँ-जहाँ उनकी पिछली पीढ़ियाँ रहती आ रही थीं, तथा (३) इस देश के आदिवासियों की भाषा का प्रभाव। इन प्रभावों की मात्रा के अन्तर से आर्यों की भाषा में वैषम्य का होना स्वाभाविक ही था। भाषा के कई रूप हो गए। अतएव भाषा के शब्द-भण्डार तथा प्रयोग के स्थिरीकरण का प्रयत्न किया गया और उसका नियमानुरूप संस्कार करके 'संस्कृत' नाम रखा गया। आर्य, द्रविड़, मुण्डा, देशज और विदेशी भाषाओं से आये हुए अनेक नवीन प्रयोगों को, जो उस समय प्रचलित हो गए थे, स्वीकार किया गया; अनेक पुराने प्रयोग अव्यवहृत हो गए थे, उन्हें निषिद्ध माना गया। इस प्रकार भाषा का संस्कृत रूप निर्धारित करने वालों में यास्क, पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि बहुत प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। इस व्यवस्थित और स्थिरीकृत भाषा का रूप संस्कृत-साहित्य में वर्तमान है। यही साहित्यिक भाषा शिक्षित और शिष्टवर्ग की बोल-चाल की भाषा भी थी। पर यह निश्चित है कि जन-साधारण की भाषा इससे भिन्न थी।

वैदिक और संस्कृत रूपों में प्राप्त प्राचीन आर्यभाषा के मुख्य-मुख्य लक्षण ये हैं—(१) यह भाषा योगात्मक है, अर्थात् किसी शब्द के अर्थ को बढ़ाने के लिए उसके साथ ध्वनि-तत्त्व जोड़ दिया जाता है। इस ध्वनि-तत्त्व की कोई स्वतन्त्र सार्थकता दिखाई नहीं देती। यह तत्त्व अश्लिष्ट, श्लिष्ट, तथा प्रश्लिष्ट होकर मूल शब्द के साथ जुड़ता है। इसके उदाहरण क्रमशः दैवत्य, धार्मिक और वैभव दिये जा सकते हैं। (२) इस तरह के ध्वनि-तत्त्व इस भाषा में तीन प्रकार के हैं—उपसर्ग, प्रत्यय तथा अन्तर्सर्ग, जैसे अभिनव, अतिरिक्त, अनुभव, तथा लुप्त, कर्तव्य, स्पष्टता, और भाव, लेख, भौम आदि में। (३) कभी-कभी एक से अधिक तत्त्व जोड़े जाते हैं जैसे अत्याचार, आध्यात्मिकता, पाण्डित्य आदि में। (४) वाक्यों में शब्दों का परस्पर सम्बन्ध बताने के लिए भी संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया के साथ इतना योगात्मक प्रयोग होता है जैसे रामस्य (राम का), तेन (उसने), महती कृपा अथवा लघुना दण्डेन (छोटे डंडे से),

भवति (होता है) इत्यादि। (५) इसमे संज्ञा (एवं विशेषण) तथा सर्वनाम के आठ कारक, तीन वचन और तीन लिंग एवं क्रिया के परस्मै पद, आत्मने पद, उभय पद रूप-भेद के अतिरिक्त दस गण, तीन पुरुष, तीन वचन, और लट् लकारादि भेदो से रूपातर होते हैं। (६) क्रिया मे लिग-भेद नही होता। (७) कृदन्त का वैदिक मे विशेषण के रूप मे तथा संस्कृत में क्रिया के रूप मे प्रयोग होता है। (८) उच्चारण मे सयुक्त अक्षरों का बाहुल्य है। (९) टवर्ग अक्षरो का प्रयोग क्रमशः बढ़ता रहा है। भाषा-शास्त्रियो का कहना है कि टवर्ग द्रविड़ो से सीखे गए हैं। (१०) ऋ, लृ और ष का व्यवहार घटता रहा है।

जन-साधारण की भाषाओ के बहुत प्राचीन रूप उपलब्ध नही है। लेकिन पालि, प्राकृत और अपभ्रश—इन तीन जन-भाषाओं की जानकारी हमे कुछ ग्रंथों के द्वारा प्राप्त होती हैं। पालि-काल ईस्वी सन् के प्रारम्भ तक, प्राकृत-काल ५०० ई० तक और अपभ्रंश काल ११०० ई० तक माना जाता है। पालि के उदाहरण बौद्ध धर्म-ग्रन्थो, जैन सूत्रो तथा शिला-लेखो मे प्राप्त होते हैं। पालि शब्दो मे ऋ, लृ का अभाव, ऐ, औ की जगह ह्रस्व ए, ओ का आविर्भाव, पश्चिमी पालि मे ष का लोप और पूर्वी मे श, ष, स के स्थान पर श का व्यवहार, विसर्ग का लोप, संयुक्त व्यंजनो का सरलीकरण आदि ध्वनि-सम्बन्धी लक्षण मिलते है। व्याकरण मे संज्ञा और सर्वनाम के प्रत्ययो का कुछ-कुछ एकीकरण, चतुर्थी विभक्ति का लोप, द्विवचन का ह्रास, क्रिया के लुट्, लङ्, लिट् और लृङ् रूपान्तरो का अभाव, विधि लिङ् तथा आशीर्लिङ् का एकीकरण, गण-विभेद की जटिलता में कमी, आत्मने पद का ह्रास पालि और वैदिक के अन्तर को समझने के लिए आवश्यक लक्षण हैं। पालि-साहित्य से यह स्पष्ट होता है कि पालि के कम-से-कम चार रूप थे। उनमे पश्चिमी प्रदेश (मध्य प्रदेश) और मगध की भाषाओं का प्राधान्य था। साहित्यिक पालि के विकास मे तत्कालीन बोलियो के अतिरिक्त वैदिक भाषा का भी हाथ था। जन-भाषा को संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान और उच्च साहित्य का वाहन बनाने के लिए वैदिक शब्दावली और प्रयोगो को अपनाना अनिवार्य था।

धीरे-धीरे जब पालि और संस्कृत अपने साहित्यिक स्तर के कारण जन-भाषा से दूर हट गई तो फिर से लोक-साहित्य और लोक-भाषा पर ध्यान गया। प्राकृत मे साहित्य लिखा जाने लगा। जिस तरह पालि ने वैदिक से सास्कृतिक शब्दो को लिया, उसी तरह प्राकृत ने संस्कृत के सास्कृतिक शब्दो का प्राकृतीकरण किया। साहित्यिक प्राकृत मे तद्भव शब्दो और प्रयोगो की भरमार है और ऐसा जान पडता है कि प्राकृत का एक मात्र काम यह था कि वह संस्कृत को सरल करे। ध्वनि-विकास मे संयुक्त व्यंजनो का पूर्ण दीर्घीकरण और अन्तिम व्यंजनो का, न्, म् को छोड-कर, नितान्त लोप उल्लेखनीय है; जैसे दक्षिण, पुण्य, रक्त, अवस्था, मंत्रस्य की जगह दक्खिण, पुण्ण, रत्त, अवत्था, मंतस्स, और पश्चात्, अवाक् की जगह पच्छा, अवा इत्यादि मे। न्, म् के स्थान पर अनुस्वार रह गया जैसे तस्मिन्, गच्छन्, गगनम्, दुग्धम् की जगह तस्सिं, गच्छं, गकनं, दुध्धं मे। दो स्वरों के बीच मे स्पर्श वर्ण का प्रायः लोप हो गया जैसे काकः, कति, राजा की जगह काओ, कइ, राआ, आदि। कई अवस्थाओ मे अघोष का सघोष और सघोष का अघोष हो गया, जैसे गच्छति, शाक के लिए गच्छदि, साग मे और दामोदर, कम्बोज के लिए तामोतर, कम्बोच मे। टवर्ग का लोप नहीं हुआ। मध्यम म का वँ और प का व हो गया जैसे भँवर (भ्रमर), आणवेदि (आज्ञापयति) मे। शब्द के आदि मे और ध्वनियाँ तो प्रायः सुरक्षित रहीं, पर

न की जगह ण, य की जगह ज, श ष की जगह स हो गया जैसे णेइ (नयति), जधा (यथा), सावक (श्रावक), सड (षंड) मे।

हिन्दी के विकास को समझने के लिए प्राकृत के कुछ अन्य शब्द भी यहाँ दिये जाते है —अग्गि (अग्नि), अच्छरा (अप्सरा), अस्सु, अंसु (अश्रु), असवार (अश्ववार, अश्वपाल), आएस (आदेश), अट्ठासि (अष्टाशीति), अट्ठाइस (अष्टाविंशति), अंधयार (अंधकार), खेत्त (क्षेत्र), अगाह (अगाध), अग्गे (अग्रे), सच्च (सत्य), अज्ज (अद्य), अप्प (आत्मन्), इट्टा (इष्टका), इक्ख (इक्षु), ईसर (ईश्वर), दहि (दधि), उऊखल (उदूखल), उक्खणण (उत्खनन), उग्गाल (उद्गार), उग्घाड (उद्घाट्य), सकल, सखला (शृङ्खला), उज्जल (उज्ज्वल), उट्ठा (उत्था), ऊसर (ऊपर), कीडिया (कीटिका), खाण (खादन), खार (क्षार), खीलिया (कीलिका), घर (गृह), गोवाल (गोपाल), गोहूम (गोधूम), घडी (घटी), जंभा (जृम्भा), जस (यशस्), जिब्भा (जिह्वा), जूअ (द्यूत), जूअ (यूप), टुट्ट (त्रुट्), ठाण (स्थान), राउत्त (राजपुत्र), राउल (राज-कुल)।

प्राकृत की एक और प्रवृत्ति है महाप्राण ध्वनियो से प्रेम, जो देशज शब्दो मे विशेषतः लक्षित होता है। उदाहरण—खड्डा, खखर, खलमलिय, खसिअ, खिच्च (हि० खिचड़ी), खोट्ट (हि० खोटा), घग्घर (हि० घघरा), घरट्ट (अन्न पीसने का पाषाण-यंत्र), छल्ली (हि० छाल) छायणी (हि० छावनी), छिक्का (हि० छिक्का, छींका), छोयर (हि० छोरा), झखर (हि० झखाट), झगड (हि० झगड़ा), झड्प, झिंगिर (हि० झींगुर), झुंपडा (हि० झोपड़ा), झोलिआ (हि० झोली), ठट्ठार (हि० ठठेरा), थरथर इत्यादि।

प्राकृत मे द्रविड भाषाओं की टवर्गीय प्रवृत्ति भी बढ़ती रही है।

प्राकृत भाषा के व्याकरण मे भी सरलता आ गई। संज्ञा और धातुओ के रूपान्तर मे पालि की प्रवृत्ति जारी रही और कारक-चिह्नो तथा प्रत्ययो की संख्या बहुत कम हो गई। प्रथमा और द्वितीया के एव षष्ठी और चतुर्थी विभक्तियो के रूपो मे निकटता आ गई। द्विवचन का लोप हो गया। सभी संज्ञाएँ अजन्त हो गई, हलन्त संज्ञाएँ नहीं रहीं। लट्, लोट्, लृट् के अतिरिक्त अन्य लकारो के रूप लुप्त हो गए। कृदतों और तद्धितो के रूपो को भी सरल करने का झुकाव स्पष्ट है। कृदन्तो और तद्धितो को क्रिया के रूप मे प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढ़ गई।

कुछ शब्दो के अर्थ और लिंग भी बदले, पर ऐसे शब्दो की संख्या बहुत अधिक नहीं है।

वररुचि के अनुसार प्राकृत के चार भेद हैं—महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौर-सेनी। हेमचन्द्र ने अर्द्धमागधी का नाम भी लिया है और इसका महत्त्व भी अधिक है। सबसे अधिक विकसित और व्यापक प्राकृत शौरसेनी थी। उत्तरकालीन वैदिक भाषा, संस्कृत और साहित्यिक पालि, इन सबका उत्तराधिकार शौरसेनी ही को प्राप्त हुआ। यह उसी मध्यदेश की भाषा थी जहाँ पूर्वकाल मे उक्त सभी भाषाओं का साहित्यिक रूप निश्चित हुआ और जहाँ विशाल एवं उत्कृष्ट परम्परागत साहित्य की सृष्टि होती रही। हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती तथा पहाड़ी भाषा का विकास इसी से हुआ। डॉ० मनमोहन घोष का विचार है कि महाराष्ट्री भी शौरसेनी ही की एक उत्तरकालीन शाखा है। जिस अर्द्धमागधी से बिहारी भाषाओं का विकास हुआ है उस पर भी शौरसेनी का गहरा प्रभाव रहा है।

प्राकृत भाषाओं और आधुनिक भाषाओं के बीच मे अपभ्रंशों की स्थिति है। जब

प्राकृतों ने साहित्यिक रूप धारण कर लिया और वे भी संस्कृत की तरह व्याकरणबद्ध हो गई तो जनभाषाओं ने सिर उठाना शुरू किया। धीरे-धीरे इनका प्रयोग भी साहित्य में होने लगा। दण्डी (७वीं शती) के बाद तो अपभ्रंश-साहित्य उत्तरोत्तर बढ़ चला। वैसे तो प्रत्येक प्राकृत का अपना अपभ्रंश-रूप रहा होगा, पर सर्वाधिक और सर्वश्रेष्ठ साहित्य शौरसेनी अपभ्रंश में ही मिलता है जिससे हिन्दी का जन्म हुआ। और यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि एक तो शौरसेनी प्रदेश की अपनी साहित्यिक परम्परा थी, दूसरे इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत था और तीसरे मध्यदेश की भाषा में सदा से उदारता, सर्वग्राह्यता और सांस्कृतिकता आदि गुण रहे हैं।

अपभ्रंश में दीर्घ व्यंजन, मूर्धन्य व्यंजन तथा महाप्राण व्यंजन लाने की प्रवृत्ति विशेष बढ़ गई, जैसे :

जावण आप उणिज्झइ, तावण सिस्स करेइ।
अन्धाँ अन्ध कढाव तिम, वेरण वि कूव पडेइ॥ (सरहपा)

(जब तक आप न जाने, तब तक शिष्य न करे, अन्धा अन्धे को निकालने लगे तो दोनों कूप में पड़ें।)

पढमु पविट्ठहु हिय तसु, पच्छा भवणि पविट्ठ। (सोमप्रभ)

(पहले प्रवेश करो हृदय में उसके, पीछे भवन में प्रवेश करो।)

व्याकरण भी अधिक सरल होता गया। प्रथमा, द्वितीया और षष्ठी विभक्तियों का लोप हो गया। हिन्दी की अयोगात्मक अवस्था अपभ्रंश ही से विकसित होती है। विभक्ति-प्रत्ययों की जगह परसर्ग लगाने का साहस अपभ्रंश ने किया। हिन्दी के "हुति", "थै", "ते", "सों", "से", "सेति", "ने", "कहँ", "केर," "कर", "का", "के", "तन", "महँ", "मे", "ऊपर", "पै" आदि अनेक परसर्गों का आदि रूप और प्रयोग अपभ्रंश में मिलता है। क्रियाओं में भी तिङन्त रूपों के स्थान पर कृदन्त रूपों का व्यवहार, जो प्राकृत में शुरू हो गया था, अपभ्रंश में पूर्णता को पहुँच गया। सहायक क्रियाओं तथा वर्तमान और भविष्यत् के रूपों में तो तिङन्त के तद्भव ही प्रचलित रहे, पर अन्यत्र कृदंतों का प्रयोग होने लगा, जैसे "मइँ भणिय तुहुँ", "मइँ तुहुँ वारिया", "धण दीह्न", "जएव्व", "चलि", आदि में।

अपभ्रंश के इस रूप को हिन्दी से मिलाकर देखिए :

'कावि वेस अहरग्ग समप्पइ। जिज्झइ खिज्झइ तप्पइ कंपइ॥'

(कोई वेसवा अधराग्र, समर्पै। जिज्झै खीझै तापै-कंपै।)

पुल्लिंग का अन्तिम आकार भी अपभ्रंश में आ गया था, जैसे सं० श्यामलः, प्रा० सामलो, अप० साँवला, हि० साँवला, एकल्ला, चेल्ला, हीआ, स्त्रीलिंग में अंतिम ई का विकास भी अपभ्रंश में हो गया था, जैसे रंडी, एकली, लट्ठी, थाती आदि में। नपुंसक लिंग का लगभग लोप ही हो गया। संज्ञार्थक—त्व और—ता के स्थान पर अपभ्रंश में—तण और—प्पण रूप प्राप्त होते हैं, जैसे देवप्पण, बड्डुतण, बड्डुप्पण, हि० बड़प्पन।

अपभ्रंश की सबसे बड़ी विशेषता उसके शब्द-भण्डार में है। अपभ्रंश-साहित्य में देशी और विदेशी प्रचलित शब्दों का खुलकर प्रयोग हुआ। कुछ रोचक शब्द यहाँ दिये जाते हैं—चेल्लु, चेल्ला (हि० चेला), चंगा (हि० चगा भला), आल-माल (हि० माल-मत्ता), लुक्को (हि० लुका-छिपा), पागल, तलाय, सक्कर, पोट्टल (हि० पोटरी), कोचा-वाला (हि० कुञ्जी-

ताला), ढेक्कार (हि० डकार), टोप्पी, बहुड़ि (व्रज० बहुरि) भित्तरि (हि० भीतर), चालु, भुंपडा, हट्टि, फालिसि (हि० फालसा) तुलक (हि० तुरक), सेर, पातसाहि, सालार, डूंगर, लडक्का, इत्यादि।

हिन्दी के ध्वनि-विकास, व्याकरण और शब्द-कोश को समझने के लिए अपभ्रंश भाषा का अध्ययन नितान्त आवश्यक है, ऐसे ही जैसे हिन्दी साहित्य के उद्गम, हिन्दी की काव्य-शैलियों, काव्य रूपों, वर्ण्य विषयों और सारी साहित्यिक परम्परा को समझने के लिए अपभ्रंश-साहित्य का अध्ययन आवश्यक माना गया है।

डिंगल नागर अपभ्रंश और शौरसेनी अपभ्रंश की ज्येष्ठ पुत्री कही जा सकती है। 'डिंगल' नाम तो सर्वप्रथम १६वी शताब्दी मे प्रचलित हुआ, लेकिन यह सिद्ध है कि 'डिंगल' भाषा राजस्थानी और 'पिंगल' से प्राचीन है। डॉ० एल० पी० टेसीटरी ने डिंगल को अनियमित, असंस्कृत और गॅवारू भाषा कहा है जिसका परिष्कृत साहित्यिक रूप 'पिंगल' कहलाता है। इसकी विशेषताएँ हैं—द्वित्त (दीर्घ) वर्ण का प्रयोग और अनुस्वार का प्राचुर्य। 'णकार' की जगह इसमे धीरे-धीरे नकार का व्यवहार बढ़ता गया है और शब्द के आदि मे विशेष करके नकार ही रह गया है। जब डिंगल चारणो के हाथ से पड़कर केवल वीर-काव्य के लिए बनकर रह गई और साहित्यिकता के कारण उसमे कृत्रिमता हद से बढ़ गई तो इसमे राजस्थान अथवा व्रज की प्रचलित भाषा का सम्मिश्रण करके साहित्य मे प्रयोग किया जाने लगा। इस प्रकार डिंगल के पश्चात् एक ओर राजस्थानी का साहित्य मे प्रचार बढ़ा और दूसरी ओर राजस्थानी-मिश्रित व्रजभाषा (पिंगल) का अथवा शुद्ध व्रजभाषा का। ये भाषाएँ मिलकर वीर रस, शृङ्गार, भक्ति, राष्ट्रीयता, नीति, उपदेश आदि सब-कुछ अभिव्यक्त करने मे समर्थ थीं। व्रजभाषा की शक्ति तो इतनी बढ़ी कि यह उत्तर भारत की सर्वमान्य साहित्यिक और राष्ट्रीय भाषा बन गई, यहाँ तक कि मध्य देश के बाहर पंजाब, गुजरात और बंगाल के कवियो ने भी इसे अपनाया। साहित्यिक स्तर पर आकर काल-क्रम से व्रजभाषा मे भी वही कृत्रिमता, वही व्याकरणबद्धता और वही क्लिष्टता आ गई जो किसी भी ऐसी साहित्यिक भाषा मे आ जाती है जो जनभाषा से दूर हट जाती है। इस बीच मे दिल्ली और मेरठ के आस-पास की बोली मे बहुत अच्छा साहित्य विकसित हो रहा था। यह बोली चुस्त, मुहावरेदार और खड़ी रुड़ी थी। ज्यों-ज्यो गद्य का महत्त्व बढ़ता गया त्यो-त्यों खडी बोली का भी हिन्दी मे प्रचार बढा। गद्य और पद्य की भाषा को एक-सा रखने के लिए इसका प्रयोग पद्य में भी होने लगा।

ऊपर जिन भाषाओ और बोलियो का उल्लेख किया गया है, उनका विकास साहित्य के क्षेत्र मे ही दिखाया जा सका है, क्योकि बोल चाल की भाषाओं का कोई अभिलेख-संचय हमारे पास नही है। वैसे तो अपभ्रंश मे १८वी शती तक, डिंगल मे १६वीं शती तक तथा राजस्थानी और व्रजभाषा मे आज तक बराबर साहित्य लिखा जाता रहा है, लेकिन अपभ्रंश काल छठी से ११वी शती तक, डिंगल-काल १२वीं से १३वी शताब्दी तक, राजस्थानी और राजस्थानी-मिश्रित व्रजभाषा (पिंगल) का काल १४वी-१५वीं शताब्दी तथा १६वीं शती से १८५० तक माना जाता है। इसके बाद से खडी बोली का काल चल रहा है। इस बीच मे पूर्वी हिन्दी ने कबीर, जायसी आदि सूफी कवियो और तुलसीदास की कृतियो द्वारा साहित्यिकता का दावा तो किया, पर इसकी मान्यता सीमित ही रही। हिन्दी की अन्य बोलियो के अनेकानेक शब्द और प्रयोग तो

हमारे साहित्य मे अवश्य उपलब्ध होते है, पर इन बोलियो का अपना कोई साहित्यिक महत्त्व नही है।

'हिन्दी' शब्द 'हिन्द' से बना है। हिन्द की सभी भाषाओं को 'हिन्दी' कहा जाता रहा है। जिस भाषा को आज 'हिन्दी' नाम से पुकारा जाता है, इसके लिए यह शब्द लगभग १०० वर्ष से प्रयुक्त हो रहा है। इससे पहले 'देशभाषा', 'मरुभाषा', 'व्रजभाषा', 'भाषा', 'भाखा' 'देहलवी', 'कन्नौजी', 'इलाहाबादी', 'बनारसी' आदि नाम भिन्न-भिन्न बोलियों के तो मिलते हैं, पर इस समूह के लिए कोई एक नाम नहीं मिलता। आज जिसे 'हिन्दी' कहते हैं उसके अन्तर्गत पूर्वी पंजाबी, बागड़िया, खड़ी, राजस्थानी, व्रजभाषा, बुँधेली, कन्नौजी, अवधी, मध्य पहाडी, भोजपुरी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, बिहारी आदि बोलियाँ आती हैं। ये सब हिन्दी की उपभाषाएँ है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने 'हिन्दी' के दो भेद बताये हैं—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। पश्चिमी हिन्दी की बोलियो का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से और पूर्वी हिन्दी की बोलियो का विकास अर्द्धमागधी अपभ्रंश से हुआ है। पर बिहारी से ज्यो-ज्यो हम पश्चिम को चलते हैं त्यो-त्यो शौरसेनी अपभ्रंश और पश्चिमी हिन्दी का प्रभाव बढ़ता गया है। साथ ही दो-दो, तीन-तीन बोलियो का सम्मिश्रण होकर भी एक-एक नई बोली की स्थिति खडी हो गई है। मेरी समझ मे भोजपुरी मगही, मैथिली और अवधी का सम्मिश्रित रूप ही है और स्वतः कुछ नही। छत्तीसगढ़ी भोजपुरी और अवधी के सम्मिश्रण से बनी है जिसमे अनेक रूप उड़िया और दक्षिणी भाषाओ के मिल गए हैं। बघेली अवधी ही का एक रूप है। बुँधेली अवधी और व्रजभाषा के मेल से विकसित हुई है। कन्नौजी मे खडी, अवधी और व्रज के रूप स्पष्टतः मिल जाते हैं। इसी तरह बागड़िया पंजाबी, राजस्थानी और खडी के सम्मिश्रण से बन गई है। पूर्वी पंजाबी लहँदा और खड़ी की खिचड़ी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। राजस्थानी भी व्रजभाषा, पंजाबी और गुजराती (एवं नागर अपभ्रंश) के मेल से बनी है। खड़ी बोली मे पंजाबी और व्रजभाषा के रूप घुल-मिल गए हैं जिनसे यह अलग बोली हो गई है। इस प्रकार शौरसेनी और अर्द्धमागधी अपभ्रंश से विकसित बोलियो का समुच्चय, क्रमचय और विस्तार (Comlımatım permutatıon) कुछ इस ढग से होता रहा है कि दो से बढ़कर सोलह बोलियाँ हो गई हैं। अतः ग्रियर्सन साहब का यह मत ठीक ही है कि हिन्दी के दो रूप हैं—पूर्वी और पश्चिमी। इन दो रूपो में भी इतना घोल-मेल और आदान-प्रदान हुआ है कि यदि आज ग्रियर्सन महोदय जीवित होते तो देखते कि उनकी धारणाओं में परिवर्तन हो गया है। शिक्षा-प्रसार, यातायात, साहित्य, संस्कृति, राष्ट्रीयता आदि कारणो से हिन्दी मे पूर्व और पश्चिम का भेद भी मिटता जा रहा है। आधुनिक हिन्दी मे कितना कुछ भिन्न-भिन्न बोलियो का है और भिन्न-भिन्न बोलियो मे कितना-कुछ केन्द्रीय हिन्दी का है, इस पर अलग से खोज करने की आवश्यकता है। लेकिन इतना सत्य है कि हिन्दी खडी बोली प्रदेश के लिए भी इतनी सम्मान्य है जितनी हिन्दी-प्रदेश के अन्य भागो के लिए; और इसी लिए यह खड़ी बोली से इतनी ही भिन्न है जितनी बिहारी, व्रजभाषा, अवधी, पंजाबी या राजस्थानी से। इसी कारण से यह राष्ट्रभाषा भी है और साहित्य-भाषा भी।

रामसुरेश त्रिपाठी

भाषा का विकास और प्रतीकवाद

प्रतीक एक प्रकार का बुद्धि-व्यापार है। पीठ की रीढ़ सीधी होने से और सिर के खड़े रहने से मनुष्य का मस्तिष्क कुछ उर्वर हुआ। बुद्धि के विकास के साथ मानव ने प्रतीक से काम लेना सीखा। प्रतीक से धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ। भाषा और प्रतीक-शक्ति मनुष्य को पशुवर्ग से अलग करती है। भाषा स्वयं एक प्रकार का प्रतीक है और संस्कृत का सर्वप्रथम लक्षण है। प्रतीकवाद का इतिहास मानवता के विकास का इतिहास है। सभ्यता और संस्कृति की अनेकरूपता और संकुलता के कारण प्रतीकवाद भी बहुरूपी हो गया है और कला तथा विज्ञान के क्षेत्र मे इसके अलग-अलग स्वरूप निर्मित हो रहे है। परन्तु इसके कुछ मूल तत्त्व सभी रूपो मे एक से है। प्रतीक या प्रतीकवाद अपने मूल रूप मे उन वस्तुओ से सम्बद्ध था जो जाति, गुण, क्रिया या अपने किसी अन्य सादृश्य के द्वारा अन्य वस्तुओ, व्यक्तियो या विचारो को जताती थी। व्याप्ति-सम्बन्ध भी प्रतीक का एक रूप था और उपमान भी प्रतीक का स्थान लेता रहता था। धीरे-धीरे प्रतीक के अर्थ मे विकास हुआ। संकेत और संकेतित वस्तुओ मे सादृश्य आदि से ध्यान हटने लगा। उनके स्थान मे आरोपित या कल्पित भाव घर करने लगे। संकेत करने वाली वस्तु का अपना मूल्य नहीं के बराबर हो गया। राष्ट्रीय झण्डा एक प्रतीक है। इसके पीछे छिपे हुए अपार जन-समूह के गौरव का इसके प्रकृतरूप—एक-डेढ़ गज कपड़े के टुकड़े—से कोई मिलान नही है। गणितशास्त्रीय चिह्नो का अपने-आप मे कोई अर्थ नहीं है फिर भी उनके अर्थ-भार को विरले मस्तिष्क ही सँभाल पाते हैं। एक विशेष प्रकार की कविता, जिसमे अभिधेय अर्थ के अतिरिक्त किसी व्यापक अर्थ की व्यंजना रहती है, प्रतीकवाद के भीतर आती है। अवश्य ही कविता के क्षेत्र मे संकेत करने वाली वस्तु का मूल्य अभी नगण्य नही होने पाया है। वह शब्द-शक्ति की महिमा है। पर कब तक यह शक्ति प्रतीकवाद की वर्तमान धारा को कुछ पीछे खींचती रहेगी, नही कहा जा सकता। फ्रायड-स्कूल के मनोवैज्ञानिक शरीर की प्रायः सभी अनजान चेष्टाओ को प्रतीकात्मक मानते है। किसी बैठे व्यक्ति का यो ही पैर हिलाना, उनके मत मे, किसी दबी-दबाई भावना के चुपचाप चरितार्थीकरण का प्रतीक है। प्रतीक के द्वारा अल्प से बहुत का काम लिया जाता है जिससे एक ओर लाघव और दूसरी ओर शक्ति की बचत होती है। विज्ञान मे प्रतीक-पद्धति से सुविधा और कला मे चारुता बढ़ी है। वैज्ञानिक प्रतीक मे प्रतीक का निर्देशक स्वरूप प्रमुख रहता है जब कि कला, धर्म या राजनैतिक प्रतीक जनता के मनोरागो से रंजित रहते हैं। रुचि-प्रसूत होने के कारण प्रतीक का कोई शाश्वत रूप नहीं है। इसके क्रिया-कलाप एक तरह के समझौता-मात्र है और अपने व्यापक-से-व्यापक रूप मे भी सीमित माने जायेंगे। चिह्न (साइन्) और संकेत (सिगनल्) प्रतीक (सिम्बल) के पूर्व रूप हैं। इनमे भेद भौतिक और बौद्धिक अर्थों तथा उनके मूल्यो पर निर्भर करता है। इन सभी पहलुओ का द्योतक अँगरेजी का सिम्बोलिज्म

शब्द है जिसके लिए यहाँ प्रतीकवाद शब्द का व्यवहार किया गया है। प्रतीकवाद की इस संक्षिप्त पीठिका के आधार पर हम भाषा के विकास पर विचार करेंगे।

भाषा के उद्गम के विषय में अनेक वाद हैं। कोई भी पूर्ण नहीं है। भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी ने इस प्रश्न पर विचार करना अब एक तरह से छोड़ दिया है। क्योंकि एक तो प्राचीनतम भाषा का रूप अज्ञात है फिर केवल भाषा-विज्ञान के बल पर उद्गम का प्रश्न सम्भवतः हल नहीं हो सकता। परन्तु किसी समस्या को अज्ञात या अगम कहकर छोड़ देना न तो किसी जिज्ञासु के उपयुक्त है और न किसी वैज्ञानिक के। कठिनाइयाँ अवश्य हैं। पर प्रश्न के सजीव बने रहने से ही वे हल हो सकती हैं। जैसा कि कुछ नवीन मनोविज्ञान के पंडित मानते हैं, बहुत सम्भव है भाषा के उद्गम में प्रतीक का हाथ हो।

मनुष्य में सबसे अधिक मौलिक और तीव्र मनोवेग भूख और काम हैं। भाषा की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति इन मनोवेगों से सम्बद्ध रही होगी। इनके सम्बन्ध से प्रायः सभी भाषाओं में सहस्रों शब्द बने हैं, बन रहे हैं। प्रतीक के आधार से एक-एक शब्द से शतशः शब्द विभिन्न अर्थ में विकसित होते गए हैं। ऐसा जान पड़ता है, आदि काल में भूख और काम की क्रिया एक-दूसरे पर आरोपित होती रहती थी, दोनों के लिए प्रायः एक ही शब्द का व्यवहार होता था, दोनों ही शरीर के आहार थे। आदम के फल चखने की कथा प्रसिद्ध है। संस्कृत के 'भुज्' और 'भज्' धातुओं का प्रयोग दोनों पक्षों में एक-सा सदा से होता रहा है और इनसे बने हुए 'भोग्य,' 'भोग' आदि शब्द और अन्य भाषाओं से इनके समानार्थक शब्द अनादि काल से दोनों ओर जुटे हुए हैं। भग शब्द ऐश्वर्यवाची बाद में हुआ और प्रतीक-पद्धति पर हुआ। भजन और भक्ति का भी मूल वही है। 'भजन' शब्द व्रजभाषा के कवियों तक दो अर्थ रखता था। भक्ति, लौकिक प्रेम का उन्नयन (सब्लिमेशन) हो या न हो, भक्ति शब्द 'भज्' का विकास है। भूख ने कृषि को जन्म दिया, और काम ने सृष्टि चलाई। यहाँ भी उनकी एकता बनी रही। सभी भाषाओं में क्षेत्र, बीज, कर्षण, उपजाऊ, ऊसर आदि शब्द काम और कृषि के क्षेत्र में समान रूप से व्यवहृत होते रहे हैं। और प्रतीक के रूप में दोनों का काम करते रहे हैं जैसे 'मेघदूत' के "सद्यः सीरोत्कर्षण-सुरभि क्षेत्रमारुह्यमाल" वाक्य में है। इसके अतिरिक्त असभ्य जातियों की भाषा से लेकर सुसंस्कृत देश की भाषाओं तक में कृषि के औजार और साधन हल, फाल आदि लैंगिक प्रतीक का काम अनादि काल से करते रहे हैं। कई जातियों में खेती-सम्बन्धी धार्मिक कृत्य, काम-कृत्य के साथ मानने की प्रथा थी। अपने देश में भी वसन्त-पंचमी के दिन काम-पूजा या मदन-महोत्सव मनाने के साथ-साथ गेहूँ की अधकच्ची बालों को भुनकर नवीन अन्न के उपभोग का उत्सव कभी मनाया जाता था। भोजन और भोज्य पदार्थों के साथ काम-प्रतीक का लगाव सभी देशों में रहा है। धार्मिक अवसरों पर यौन-प्रतीक की मिठाइयाँ और पकवान खाने की प्रथा सब देशों में थी। इस विषय के जानकार विद्वानों ने सैकड़ों उदाहरण सामने रखे हैं जो उपर्युक्त मान्यता का समर्थन करते हैं। रोम में आजीवन कौमार्य-व्रत में दीक्षित कुमारियों को उत्सव के दिनों ऐसे पकवान दिये जाते थे जो पुरुषेन्द्रिय के प्रतीक होते थे। मध्य काल में जर्मनी में कठोरगर्भा स्त्री के सत्कार में एक विशेष प्रकार की रोटियाँ बनती थीं जो बीच में विभाजित रहती थीं, ऐसी रोटी को स्पाल्ट गेब्येक (Splat gebake) कहते थे। अपने देश में गर्भवती औरतों के लिए एक विशेष प्रकार की बरी बनती थी जो उनके वक्षस्थल के आकार की होती थी। मछली खाने से सन्तति-वृद्धि होती

है, यह प्रवाद कई देशों में मछली को पुरुषेन्द्रिय का प्रतीक बन गया है। 'हिब्रू' भाषा में मछली के लिए 'नुन' शब्द है जिसका दूसरा अर्थ अंकुरित करना या जन्म देना भी है। रोमन सभ्यता में मछली 'वीनस' के लिए पवित्र थी और भारतीय सभ्यता में 'काम मकरध्वज' कहा जाता है। मैकडूगल्ड के अनुसार 'हिट्टाइट' भाषा में पुरुष-जननेन्द्रिय के लिए पोसोन (Posson) शब्द है जो फ्रेंच प्वासों (Poisson) से बना है जिसका अर्थ मछली है।

सभ्य जगत् के लिए बहिरगतः उपेक्षित किन्तु वैज्ञानिक अध्ययन के लिए आवश्यक उपर्युक्त प्रतीक क्या मानव की विचार-परम्परा और उस परम्परा को वहन करने वाली भाषा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखते ? सृष्टि और सभ्यता का विकास उपर्युक्त मनोवेगों के सम्पर्क, सघर्ष और सन्तुलन के सहारे अग्रसर हुआ है। संस्कृति (कल्चर) का मूल कृषि है जैसा कि उसका अर्थ बतलाता है। कल्ट् > कल्टिभेट् > कल्चर। और उन दोनों के क्रिया-कलाप भाषा के माध्यम से ध्वनित हो-होकर दिशा-दिशा में फैलते रहे हैं। फलतः भाषा का भण्डार बढ़ता रहा है। इस वृद्धि में प्रतीकवाद कैसे सहायक हुआ है हम कुछ उदाहरण द्वारा देखेंगे। वैदिक काल में 'यश' शब्द 'अन्न' का बोधक था। अन्न समृद्धि का प्रतीक हो गया और अन्त में यश शब्द कीर्तिवाचक हो गया। प्राचीन काल में विनिमय के माध्यम पशु (कैटिल) थे। धनी व्यक्ति लखपती के तौर पर 'लक्षगुः' कहे जाते थे। यूरोप में कैटिल से 'कैपिटलिस्ट' शब्द बना, जो एक विशेष वर्ग का प्रतीक है। जर्मन भाषा में पशु के लिए 'डास फिश' (Das Vieh) शब्द था। फिश से अँगरेजी फी=फीस शब्द बना। फीस भी पशु रूप में चुकाई जाती थी। अंगरेजी का वर्चू (Virtue) शब्द, जो लैटिन 'विर' (Vir-मनुष्य, वैदिक वीराः ?) से बना है, शुरू में पौरुष या मरदानगी का द्योतक था; क्लासिकल लैटिन में साहस-बोधक था, बाद में सुन्दर गुणों को व्यक्त करने लगा। 'सौम्य' शब्द सोम रस पीने के अधिकारी के लिए प्रयुक्त होता था, शील के साथ इसका लगाव प्रतीक-पद्धति पर हुआ। 'उदार' उस घोड़े या बैल को कहते थे जो गाड़ीवान के बिना चाबुक मारे उसके इशारे पर ही यथावसर दाएँ-बाएँ होता चलता था। बाद में इस शब्द का व्यवहार उस व्यक्ति के लिए होने लगा जो याचक के बिना मुख खोले ही दान दे देता था। 'सुख' का मौलिक अर्थ रथ का आरामदेह स्थान (सीट) था। ख=खनन=छिद्र वाला फलतः इन्द्रिय का प्रतीक बाद में बना और सुख का भाव इन्द्रियों को सुखकर हो गया। अब इसका अर्थ एक-दो डग और आगे बढ़ गया है। मधु शब्द आर्यभाषा-परिवार का अत्यन्त प्राचीन शब्द है। लिथुनियन मेड्स, हाई जर्मन का मेट्ठ, जर्मन का मेड्यु इसी के रूप हैं। वैदिक काल में ही यह मधुरता का प्रतीक हो गया था। निम्न लिखित तीन पद्यों में इसके विभिन्न प्रतीकात्मक रूप केवल भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति के ही विकास को नहीं व्यक्त करते, कुछ और का भी संकेत करते हैं :

(१) मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥

—ऋग्वेद १ । ९० । ६.

(२) अहिणव महु लोलुवो तुमं
तह परिचुम्बिअ चूअमञ्जरिं।
कमल वसइ मेत्त णिव्वुदो

महुअर विश्ररिओो सि णं कहं ॥

—'अभिज्ञान शाकुन्तल', अंक ५.

(२) मधु बरसती विधु किरन हैं काँपती सुकुमार
पवन में है पुलक मन्थर चल रहा मधुभार।

—'कामायनी', वासना सर्ग

जैसे कृषिवर्ग के शब्द प्रतीक के आधार पर नये-नये रूप धरते गए वैसे कामवर्ग के शब्द ने भी अनेक चोले बदले। वैदिक वृषभ (साँड) शब्द वृष्य शक्ति का प्रतीक था। कामनाओ का वर्षक देवताओं के देवत्व की रक्षा के लिए बाद मे बना। अंगरेजी के सभ्य सूचक 'जेनिटल' शब्द भी मूलतः जनन से सम्बद्ध है। वैदिक संस्कृत मे स्त्रीवाचक जितने शब्द हैं प्रायः सभी यौन-प्रतीक के आधार पर गढ़े गए हैं। पारिवारिक सम्बन्ध-बोधक शब्द जाया, जननी, जनक आदि उसी क्षेत्र से ढाले गए हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे अनेक धार्मिक कर्मों की व्याख्या काममय है। और चूँकि ऋषियो के शुद्ध हृदय मे किसी प्रकार की छाया-माया नही थी, जो-कुछ कहा गया है स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है। यज्ञ की वेदियाँ तो प्रतीक-ही-प्रतीक थीं। स्रुक् (स्त्रीलिंग) और स्रुव (पुलिंग) भी अपना उद्देश्य नाता जोड़ जोड़कर इंगित करते थे। नीचे लिखे उद्धरण मे वैदिक ऋषियो की प्रतीक-पद्धति और उनका रूप-सौन्दर्य-बोध दोनो साथ-साथ आ गए हैं—

योषा वै वेदिः। वृषाग्निः। परिगृह्य वै योषा वृषाणं शेते। मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते। तस्मादभितोऽग्निमंसा उन्नयति। सा वै पश्चाद् वरीयसी स्यात्। मध्ये संहारिता। पुनः पुरस्तादुर्वी। एवमिव हि योषा प्रशंसन्ति, पृथुश्रोणिः, विमृष्टान्तरासा, मध्ये संग्राह्येति।

—'शतपथ ब्राह्मण' १।२।५।१६

उपनिषदो के ऋषि आध्यात्मिक अनुभूतियो को लौकिक आनन्द-प्रतीको द्वारा समझाया करते थे। 'यथा आत्मया प्रियया परिष्वक्तः न किंचिद् वेद'-जैसी उनकी उपमाएँ होती थीं। कुछ लोगो के मत मे नन्द धातु का मूल अर्थ आनन्द के एकायन से ही सम्बद्ध था, विकसित होकर परमानन्द तक पहुँचा।

ऐसा जान पड़ता है, विश्व की प्राचीन चिन्तन-धारा, विशेषकर भारतीय चिन्तन-धारा बिना किसी जोड़ी के सृष्टि-मीमांसा नही कर पाती थी। प्रकृति और पुरुष, ईश्वर और माया, शिव और शक्ति, चिति और परमेश्वर सृष्टि के आरम्भ और अन्त है। इनके बीच मे जगत् और जगत् की प्रत्येक गति मे इनकी मिश्रित छाप है। इनके रहस्यो को प्रतीक की सहायता से कुछ सहज रूप मे अवगत किया जा सकता था। प्रकृति या माया को नारी के प्रतीको द्वारा समझाने का यही हेतु था। ऐसे प्रतीको के कारण जहाँ अनेक दार्शनिक उलझने पैदा हुईं, वहाँ भाषा को सहस्रो शब्द मिले, विचार व्यक्त करने के कई गतिरोध दूर हुए और सरलता आई। और सबसे बड़ी बात यह हुई कि भाषा भूख-प्यास या ग्राम व्यवहार से ऊपर उठकर सत्य और शिव की छान-बीन करने लगी। भूख, भाषा के माध्यम से रस की ऊँचाई तक पहुँची और रस 'रसो वै सः' के सम्बन्ध जोड़ने लगा। काम प्रेम के आलोक मे घुल गया और प्रेम ईश्वर के आँगन मे पहुँचने का दावा करने लगा।

तात्पर्य यह है कि जिन मनोवेगो और अभावो के घात-प्रतिघात से सभ्यता का आरम्भ हुआ उन्हीं मनोवेगो और अभावो की अभिव्यक्ति मे भाषा का जन्म हुआ। और जिस तरह

सांस्कृतिक विकास में प्रतीकवाद सहायक रहा है वैसे भाषा के विकास में भी हाथ बटाता रहा है।

भाषा के सामान्य रूप के अतिरिक्त भाषा के विभिन्न अंगों के अध्ययन के द्वारा भी प्रतीकवाद और भाषा का सम्बन्ध देखा जा सकता है।

भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में ध्वनि-प्रतीकवाद (साउंड सिम्बोलिज़्म) की पर्याप्त चर्चा है और पुरानी चर्चा है। यास्क, पाणिनि और प्लेटो का युग इस पर विचार कर चुका था और येस्परसन-जैसे आधुनिक पण्डितों ने भी इस विषय पर विचार किया है। ध्वनि और उसके अर्थ की स्वाभाविक एकता या अनुरूपता-सूचक शब्द सभी भाषाओं में है। नद-नद शब्द करने के कारण नदी का नाम नदी पड़ा। बिजली की कड़क और बादल की गड़गड़ाहट शब्द अनुकरण पर बने हैं। ध्वनि-प्रतीक के कुछ रूप सार्वभौम या अधिक-से-अधिक व्यापक देखे जाते हैं। जैसे, पत्तों की रगड़जन्य ध्वनि के लिए हिन्दी सर-सर, अंग्रेजी सुसुरेशन (Susurration), लैटिन सुसुरस (Susurrus); हिन्दी मरमर, अंग्रेजी में भी मरमर (Murmur) है, पर जरा सा भिन्न ध्वनि के लिए। कभी-कभी किसी भाषा में किसी विशेष ध्वनि की बहुलता उस भाषा-भाषी का प्रतीक बन जाती है। फ्रांसीसियों को अंग्रेज 'पार्लेवू' कहते हैं और अमेरिकन 'डी डोक' कहते हैं, क्योंकि फ्रेंच में ये दोनों ध्वनियाँ क्रमशः 'आप कहते हैं' और 'इसलिए' के अर्थ में बार-बार व्यवहृत होती हैं। स्वभाव, मनोवेग तथा मानसिक अवस्थाओं के ध्वनि-प्रतीक सभी भाषाओं में बढ़ते जा रहे हैं। ध्वनि-प्रतीक भी प्रगतिशील होते हैं। कालिदास के समय 'नूपुर' ध्वनि करते थे; राजशेखर के समय रणरणाते थे; बिहारी के समय कटि-किंकिनी शब्द करती थी और नूपुर, यदि मौन व्रत न कर रहे हों, बजते थे, और आज रुनमुनझुन करते हैं। हिन्दी में व्यक्त वस्तु की अव्यक्त ध्वनियाँ अपने अस्फुट रूप में उस वस्तु का प्रतीक बनती जा रही हैं विशेषकर नवीन आविष्कृत यान्त्रिक वस्तुओं का, जैसे, टिक-टिक, पों-पों आदि। चिड़ियों की चहक के साथ टी-वी टी-टुट्-टुट्-जैसी प्रतीक-ध्वनियाँ भाषा में प्रवेश कर रही हैं। आधुनिक हिन्दी में पन्त जी की कविता में ध्वनि-प्रतीकवाद के रूप देखने योग्य हैं :

झम झम झम झम मेघ बरसते हैं सावन के,
छम छम छम गिरती हैं बूँदें तरुओं से छनके।
चम चम बिजली चमक रही उर में घन के,
थम थम दिन के तम में सपने जगते मन के।
आंधी हर हर करती दल मर्मर तरु चर चर,
दादुर टर टर करते झिल्ली बजती झन झन,
म्याऊँ म्याऊँ रे मोर पीउ पीउ चातक के गण।

येस्परसन के अनुसार हामी भाषाओं में 'इ' ध्वनि नजदीक का और 'उ' ध्वनि दूर का प्रतीक है। भोजपुरी में भी कुछ ऐसे रूप मिलते हैं जैसे, 'ई' अइले, 'ऊ' अवहीं ना अइहें। अंग्रेजी के 'दिस्' और 'दैट' सर्वनामों में भी कुछ ऐसा ही संकेत है। येस्परसन ने ऐसी सम्भावना व्यक्त की थी कि आर्य भाषा परिवार में स्त्रीलिंग प्रत्यय 'इ' लघुता का प्रतीक है और उदाहरण में संस्कृत का 'कुमी' शब्द रखा था। संस्कृत में स्त्रीत्व द्योतक 'आ' और 'ई' ध्वनियाँ भी [illegible] और 'ई' कभी-कभी लघुता के विपरीत अर्थ करती हैं। जैसे, संस्कृत में 'अरण्य' का अर्थ है जंगल,

किन्तु अरण्यानी का अर्थ है बड़ा जंगल। कुटीर का अर्थ है छोटा कमरा, किन्तु कुटी का अर्थ है उससे बडा कमरा। 'सर' का अर्थ है तालाब, किन्तु 'सरसी' का अर्थ है बडा तालाब (दक्षिणापथे हि महान्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते-महाभाष्य १।१।१८)। फिर भी येस्परसन के सुझाव में दूर तक सचाई है। क्योंकि बोलियों में कुटिया आदि कुटीर आदि से हल्के पड़ गए, जो इस बात का सूचक है कि संस्कृत के अर्थ उतने स्वाभाविक नहीं थे। अपवादों के विशेष कारण होंगे।

सम्भव है ध्वनि की छोटी-से-छोटी इकाई (वर्ण) आरम्भ में स्वतन्त्र प्रतीक हो, जैसा कि लिपि के इतिहास से ध्वनित होता है। अंग्रेजी में जिसे अल्फाबेट (ए, बी आदि) कहते हैं वह ग्रीक का 'अल्फा बेटा' है। किन्तु ग्रीक की भाषा में इन ध्वनियों का कोई अर्थ नहीं होता। ग्रीक वालों ने इन ध्वनियों को सामी लोगों से लिया था जिनके यहाँ लिपि का विकास पहले हो चुका था। सामी में 'अलेफ' का अर्थ 'बैल' था और अलेफ का आरम्भिक अंकन बैल के सिर के आकार का अनुकरण था। इसी तरह बेट बेथ का अर्थ घर था और इसका लिपिरूप घर की आकृति की नकल था। अन्य वर्णों के संकेत भी उनके स्वतन्त्र अर्थ-प्रतीकों पर आश्रित थे। हो सकता है, आर्य भाषाओं की ध्वनि-इकाइयाँ भी कभी स्वतन्त्र अर्थ रखती हों। बाद में पद की सामूहिक ध्वनि में अपने स्वतन्त्र अर्थ के साथ डूब गई और धीरे-धीरे केवल वर्ण-व्यंजक-मात्र रह गई। वर्णों का सार्थक-अनर्थक सम्बन्धी प्राचीन विवाद इसकी पुष्टि करता है। उपसर्गों का इतिहास भी कुछ ऐसा ही संकेत करता है। उपसर्ग स्वतन्त्र अर्थ रखते थे किन्तु जब से क्रियाओं के साथ इनका गठबन्धन हुआ, इनकी शक्ति जाती रही। ये केवल द्योतक या प्रतीक के रूप में रह गए। उपसर्गों के स्वतन्त्र अर्थ थे इसका संकेत उत्तर (उत् + तर), उत्तम (उत् + तम)-जैसे शब्दों में मिलता है। इनका प्रतीक रूप भी धीरे-धीरे ओझल होता जा रहा है। कभी सम् उपसर्ग समता, सन्तुलन का संकेत करता था; 'अभि' सामने या प्रत्यक्ष का प्रतीक था, 'प्र' आरम्भ या आदि कर्म का उपलक्षण था। इनके स्वतन्त्र अर्थ कुछ ऐसे ही रहे होंगे। जो हो, ध्वनि-प्रतीकवाद का भाषा के विकास में, अपने सीमित रूप में, स्थान है। और उपसर्ग तो क्रियाओं के साथ आहार-विहार से सैकड़ों नवीन शब्द रचते ही रहे हैं। और कभी-कभी तद्धित-प्रत्यय का भी काम करते रहे हैं।[1]

भाषा के पद-रूप और उनकी विविधता में प्रतीकवाद की सबसे अधिक गहरी छाप पदों के लिङ्ग स्वरूप पर है। बिना किसी विशेष अड़चन के कहा जा सकता है कि भाषा में लिङ्ग-भेद प्रतीक-पद्धति पर है और स्त्री-पुरुष की छाया लेकर गठित हुआ है। अचेतन वस्तुओं में स्त्रीत्व, पुंस्त्व का आरोप सचेतनीकरण के आधार पर है। जर्मन भाषा में 'डी जोन' (सूर्य) शब्द स्त्रीलिंग है और 'डर मोंड' (चन्द्र) पुलिंग है। लिथूनिया और लटविया के लोक-गीतों में चन्द्रमा सूर्य का पति है। लैटिन में सोल (सूर्य) और लूना (चन्द्र) शब्द क्रमशः पुलिंग और स्त्रीलिंग हैं। संस्कृत में 'चन्द्र' शब्द यद्यपि पुलिंग है पर बोलियों में चिर काल से 'चन्दा माई' रहा है और

१. उपसर्ग का तद्धित प्रत्यय के अर्थ में प्रयोग निरुक्त में मिला है। यास्क ने प्रमगन्द (सूदखोर की सन्तान) शब्द का निर्वचन यों किया है :—मगन्द कुसीदी। माङ्गदो मामागमिष्यतीति च ददाति तदपत्यं प्रमगन्दोऽत्यन्तकुसीदिकुलीनः। निरुक्त ६।३२। १२७। दुर्गाचार्य ने प्र का प्रयोग तद्धित अर्थ से माना है और प्रस्कण्व शब्द में भी प्र को अपत्यार्थक माना है। 'प्रस्कण्व' के लिए देखिए अष्टाध्यायी ६।१।१५३.

कवियों की आँखें सदा इसे स्त्री-मुख के साथ देखती रही हैं। तात्पर्य यह है कि परस्पर सम्बद्ध अचेतन पदार्थों में लिङ्ग-विन्यास आरम्भ में यौन के आधार पर हुआ। फ्रेंच में 'सड़क' (chemin) स्त्रीलिंग है क्योंकि उसमें पैर डाला जाता है। आधुनिक फ्रेंच में 'मुख' (La bouche) शब्द स्त्रीलिंग है और 'नाक' (Le nez) पुलिंग है। जर्मन भाषा में मनुष्य का मुख पुलिंग, पशु का मुख नपुंसक लिंग, नदी, कुएँ या थैले का मुख स्त्रीलिंग है। इनके लिए अलग-अलग शब्द हैं। ऐसा जान पड़ता है, तनुता, ह्रस्वता, सुन्दरता आदि मानव-इतिहास के शुरू में ही स्त्री के प्रतीक हो गए थे और इनके आधार पर क्रियाशीलता-द्योतक शब्दों को स्त्री या पुरुष की कोटि में डाल दिया गया। जो वस्तुएँ दैनिक जीवन के दूर की थीं, जिनके गुण अनिर्ज्ञात थे, जिनमें स्थिरत्व था, वे सब वस्तुएँ नपुंसकता की प्रतीक मान ली गईं। अवश्य इन प्रतीकों के पीछे जातीय संस्कार और सांस्कृतिक विकास छिपा हुआ है, फिर भी, प्राकृतिक प्रतीक-केन्द्र किसी-न-किसी रूप में सर्वत्र जुटा हुआ है। लिंग में व्यतिक्रम के अनेक कारण है, और रहे होंगे। 'दारा' शब्द स्त्री के परुष व्यक्तित्व के प्रतीक होने के कारण (दारयन्तीति दारा :—महाभाष्य ३।३।२०) पुलिंग कोटि में डाल दिया गया होगा। 'कलत्र' शब्द त्रान्त शब्दों की चपेट में आ जाने के कारण, जो प्रायः स्थिर प्रकृति के हैं और कम व्यवहार वाले हैं, नपुंसक वर्ग में घसीटा गया। छात्र और पुत्र-जैसे कुछ शब्द दैनिक व्यवहार के कारण बच गए। हजारों वर्ष की परम्परा और सामाजिक उतार-चढ़ाव का परिज्ञान न हो सकने के कारण अनेक शब्दों का रहस्य समझना आज दुष्कर है। केवल कुछ मोटे सूत्र समझे जा सकते हैं और उन सूत्रों में एक प्रतीकवाद है।

प्रतीकवाद अपने साहित्यिक रूप में भी भाषा के विकास में सहायक हुआ है। वेदों में प्रतीकों की भरमार देखते हुए यह कहना निराधार न होगा कि प्रतीकवाद उतना ही स्वाभाविक है जितना स्वयं भाषा। आज के कुछ आलोचक प्रतीकवाद को असामाजिक और कुण्ठित भावनाओं का अन्तर्नाद समझते हैं। उनके मत में वह कल जन्मा था और आज मिट चला है। किन्तु विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जैसे-जैसे सभ्यता या संस्कृति संकुल होती जाती है, वह अधिकाधिक प्रतीकात्मक होती जाती है और उससे अनिवार्यतः प्रभावित साहित्य भी प्रतीकात्मक होता जा रहा है। मार्क्सवादी साहित्य में प्रतीकवाद का वैसा ही सक्रिय स्थान है, जैसा किसी चिर एकाकिनी के करुण-मधुर गीतों में। साहित्यिक प्रतीकवाद ने सभी देशों में भाषा की शक्ति को बढ़ाया है। उदाहरण के लिए, प्रतीकवाद ने आधुनिक हिन्दी को, भाषा की दृष्टि से, निम्न लिखित विशेषताएँ प्रदान की हैं—

१. विस्मृति के गर्भ में डूबे हुए सहस्रों शब्दों को जीवन-दान और नये-नये शब्दों की सृष्टि।

[illegible], मार्जना-जैसे शब्द लगभग एक हजार वर्ष बाद प्रचलित हुए हैं। 'अनिल [illegible]' (पन्त), '[illegible]' (महादेवी), 'बिजली के फूल' (प्रसाद)-जैसे शब्द अपनी नवीनता और [illegible] वैदिक कवियों की याद दिलाने लगते हैं।

२. [illegible] आदि [illegible] का [illegible] कभी-कभी अन्धाधुन्ध व्यवहार। ये प्रत्यय [illegible] इतिहास में विलुप्त हो गए थे, कुछ अपभ्रंश-रूप में [illegible] आ बैठे थे। आधुनिक हिन्दी (खड़ी बोली) [illegible] साहित्य की देन हैं। विशेष बात यह है कि प्रतीकों के

साथ इन प्रत्ययों का मूल अर्थ गायब होता जा रहा है और वे भी स्वयं प्रतीकात्मक होते जा रहे हैं, जैसे स्वप्निल, स्वर्णिम, निर्झरित, स्वर्गिक आदि प्रतीक शब्दों में।

३. अनेक शब्दों के मूल्यों में विकास।

प्रभात, मधु-जैसे शब्द युग-युग से प्रतीक बने हैं। किन्तु आज जिस नवीन समाजिक चेतना और सांस्कृतिक सौन्दर्य को व्यक्त करते हैं उनके सामने उनकी प्राचीन व्यक्तिगत प्रसन्नता और मधुरता रमणीय होती हुई भी हल्की है।

४. भाषा की अभिव्यंजना शक्ति का विकास और प्रतीकों का सामाजीकरण।

दोनों का एक साथ उदाहरण—

कलियों की घन जाली में छिपती देखूँ लतिकाएँ
या दुर्दिन के हाथों में लज्जा की करुणा देखूँ

—महादेवी

इसमें लज्जा से नारी का, चिथड़े में लिपटी नारी का, फलतः दुःख-दैन्य से आर्त मानवता का संकेत है। शब्द-शक्ति का इतना व्यापक प्रसार पहले कभी नहीं देखा गया था। लक्षणा और व्यंजना, अपने शास्त्रीय अर्थ में, प्रतीकवाद की छाया छूने में भी असमर्थ हो रही हैं। साथ ही प्रतीकवाद एकांगी स्वाश्रित भावनाओं से प्रकृति को जितनी खूबी से रँग सकता है, उतनी ही सचाई से प्रकृति के सारे वैभव को मानवता के चरणों में लुटा सकता है। प्रतीकवाद अपनी एकांगिता में एक कला है और अपनी व्यापकता में एक दर्शन है।

अन्य भाषाओं में भी साहित्यिक प्रतीकवाद के कारण परिवर्तन और विकास हुए हैं।

अस्तु, भाषा के विकास में जहाँ अन्य अनेक कारण हैं, वहाँ प्रतीकवाद भी सहायक रहा है। भाषा अपने मूल रूप में स्वयं प्रतीक है। प्रतीक से सँवारी गई है। इसके अंग-प्रत्यंग में प्रतीकवाद की छाप है। इसका विकास प्रतीकवादी पद्धति पर होता आया है और होता ही रहेगा।



नरोत्तमदास स्वामी

राजस्थानी भाषा और साहित्य

(क) राजस्थानी भाषा

क्षेत्र—राजस्थानी, राजस्थान और मालवा प्रदेशों की मातृभाषा है। जिस क्षेत्र में राजस्थानी बोली जाती है वह विस्तार में हिन्दी को छोड़कर, किसी भी अन्य भारतीय भाषा के क्षेत्र से बड़ा है। राजस्थानी बोलने वालों की संख्या डेढ़ करोड़ से ऊपर है। इस दृष्टि से उसका स्थान भारतीय भाषाओं में हिन्दी, बंगला, तेलुगु, तामिल और मराठी के बाद छठा तथा विश्व की भाषाओं में कोई पच्चीसवाँ है।

सीमाएँ—राजस्थानी के पूर्वोत्तर में हिन्दी की बांगड़ू बोली, उत्तर में पंजाबी, पश्चिमोत्तर में हिन्दकी, पश्चिम में सिन्धी, दक्षिण-पश्चिम में गुजराती, दक्षिण में मराठी और पूर्व में हिन्दी की बुन्देली तथा ब्रजभाषा नाम की बोलियाँ बोली जाती हैं।

बोलियाँ—राजस्थानी की चार मुख्य बोलियाँ हैं—(१) पश्चिमी राजस्थानी—जिसका क्षेत्र उदयपुर, जोधपुर, जैसलमेर, बीकानेर और शेखावाटी का प्रदेश है; (२) उत्तरी राजस्थानी—जिसमें अलवर प्रदेश की मेवाती और अहीरी बोलियाँ आती हैं; (३) पूर्वी राजस्थानी—जिसमें जयपुर और हाड़ोती की बोलियाँ सम्मिलित हैं, और (४) दक्षिणी राजस्थानी या मालवी—जिसमें नेमाड़ी भी सम्मिलित है। अाडावला पहाड़ के निवासी भीलों आदि की तथा भारत के विविध भागों में पाए जाने वाले गूजरों और बनजारों की बोलियाँ भी राजस्थानी के ही रूप हैं। नेपाली (गोरखाली), गढ़वाली आदि पहाड़ी भाषाओं के साथ भी राजस्थानी का गहरा सम्बन्ध है। गुजराती और राजस्थानी भी मूलतः एक ही भाषा थीं जिसे विद्वानों ने Old Western Rajasthani या प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का नाम दिया है।

प्राचीन नाम—राजस्थानी भाषा का प्राचीन नाम मरु भाषा था। राजस्थान के प्राचीन साहित्यकार अपनी भाषा का इसी नाम से उल्लेख करते थे। आठवीं शताब्दी के 'कुवलयमाला' नामक ग्रन्थ में भारत की प्रमुख १८ देशभाषाओं में मरु-भाषा का उल्लेख किया गया है। अबुल-फज़ल ने आईने-अकबरी में भारतवर्ष की प्रमुख भाषाओं में मारवाड़ी को भी गिनाया है। चारणों द्वारा प्रयुक्त राजस्थानी का साहित्यिक रूप 'डिंगल' नाम से प्रसिद्ध रहा है।

छन्द और अलंकार—राजस्थानी के अपने विशेष छन्द और अलंकार भी हैं। इन [illegible] गीत था। ये गीत गाये नहीं जाते थे, पर एक विशिष्ट स्वर से पढ़े जाते थे। इनका आविष्कार सम्भवतः चारणों ने किया। प्रत्येक गीत में कम-से-कम तीन और साधारणतया [illegible] पद होते हैं। प्रथम पद के प्रथम चरण के आरम्भ में कभी-कभी कुछ [illegible] होते हैं, जो मानो गीत के आरम्भ को सूचित करते हैं। ब्रजभाषा में [illegible] ही होती थी। वह 'पिंगल' नाम से प्रसिद्ध हुई। उसकी

समानता पर, गीतों में रचित कविता की भाषा 'डिंगल' कहलाई। चारण लोग प्रायः डिंगल भाषा और गीतो मे काव्य-रचना करते थे और भाट (ब्रह्मभट्ट) पिंगल भाषा और पिंगलानुमोदित छन्दो मे। पिंगल की सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना 'पृथ्वीराज रासो' है। राजस्थानी के कवियो ने पिंगलानुमोदित छन्दो का प्रयोग भी किया है और इसकी परम्परा उन्हें अपभ्रंश मे प्राप्त हुई।

राजस्थानी के विशिष्ट अलंकारो मे 'जथा' और 'वैणसगाई' उल्लेखनीय हैं। जथाओं के अनेक भेद है जिनमे महत्त्वपूर्ण शुद्ध जथा है जिसमे गीत के प्रथम पद्य मे वर्णित भाव ही अगले पद्यो मे भंग्यन्तर से वर्णित किया जाता है। वैणसगाई एक प्रकार का आनुप्रास है। उसमे पद्यों के प्रत्येक चरण के प्रथम और अन्तिम शब्द एक ही वर्ण से आरम्भ होते है जैसे—

माता भूमी मान
पूजै राण प्रतापसी।

(ख) राजस्थानी-साहित्य

राजस्थानी साहित्य का इतिहास क्रमिक विकास के अनुसार तीन कालो मे विभक्त किया जा सकता है—

(१) प्रारम्भिक काल (११५०-१५५०)
(२) मध्य काल (१५५०-१८७५)
(३) आधुनिक काल (१८७५ से ··)

अपभ्रंश-साहित्य से पृथक् किये गए राजस्थानी-साहित्य का प्रारम्भिक काल सन् ११५० ई० से ही माना जा सकता है। प्राचीन राजस्थानी का अपभ्रंश से अन्तर प्रकट करने वाले मूल भूत लक्षण हैं—(१) विश्लेषणात्मक होने के लिए भाषा में निरन्तर आगे बढ़ने वाली उच्चारण सम्बन्धी प्रवृत्ति का समावेश, (२) विभक्ति-प्रत्यय (दोनों वचनो से भिन्न) के स्थान पर उन परसर्गों का विकास जो दोनो वचनो में सामान्य हो, (३) संयुक्त काल और संयुक्त क्रियाओं का विकास, (४) द्वित्त व्यंजन का सरलीकरण और पश्चात्स्वर का दीर्घीकरण, और (५) अहीर अपभ्रंश के सामान्य रूपों के स्थान पर संस्कृत के तत्सम रूपों का अधिकाधिक उपयोग।

प्रारम्भिक और मध्यकाल

राजस्थान का प्राचीन साहित्य तीन विभिन्न शैलियो मे अभिव्यक्त है—(१) जैन शैली, (२) चारण शैली, (३) लोक शैली।

जैन-साहित्य जैनियो के प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यो का क्रमिक विकास है और अधिकाशतः धार्मिक प्रवृत्ति का है। यह चारण-साहित्य की अपेक्षा अधिक वैविध्यपूर्ण और विस्तृत एवं व्यापक है। जैन-साधुओ ने अपनी शिक्षाओ को लोक-कथाओ के माध्यम से लोकप्रिय बनाया, जिसके कारण जैन-साहित्य प्रसिद्धि प्राप्त करता गया। जैन-साहित्य प्रबन्ध, कथा, रस, चौपदी, भाषा, फाग, बारहमासी, चौमासी, संवाद, गीत, धवल, दूहा, गजल, मातृक, स्तवन, सज्झाय, और पत्तावली आदि विभिन्न रूपो मे पाया जाता है। प्रथम समुदाय सुदीर्घ वर्णनात्मक कविताओं का है। रस मूलरूप मे वह कविता होती थी, जिसको रास-नृत्य के साथ गाया जा सकता था और बाद मे इसका अर्थ उस लम्बी रचना से लिया जाने लगा जो सामान्यतया वर्णनात्मक हो, और प्राचीन अपभ्रंश-छन्दो और यदा-कदा देशी लय में लिखी गई हो। द्वितीय समुदाय प्रकृति-सौन्दर्य सम्बन्धी कविताओ का है। फाग मे वसन्त की बहार, प्रेमी और उनके नृत्य और तत्कालीन समाज

की प्रसन्नता और स्वतन्त्रता की झलक होती थी। गजल एक ऐसी कविता होती थी जिसमें किसी नगर का वर्णन होता था।

भाट-साहित्य अधिकतर वीरतापूर्ण अथवा ऐतिहासिक प्रवृत्ति का है। भाषा सामान्यतया डिंगल है जो बोलचाल की भाषा से भिन्न है। इस शैली का सबसे प्राचीन रूप अपभ्रंश के मुनी कनकमार के करकण्ड-चरित-जैसे ग्रन्थ से मिलता है। भाट-साहित्य 'वीर पुरुषों के स्वतन्त्रता-संग्रामों के चित्र प्रस्तुत करता है।' यह विशाल साहित्य, जो वीरत्व से ओत-प्रोत जीवन और तूफानी मृत्यु के सन्देश के अतिरिक्त कुछ नहीं है—सारे राजस्थान और गुजरात, जहाँ कहीं राजपूत ने अपनी जीती हुई धरती के लिए खून की नदियाँ बहाई—फैलता गया। इस साहित्य की सबसे बड़ी देन उन चारणों की है जो तलवार को भी उतनी ही चतुरता से पकड़ते थे जितनी कि लेखनी को। लोक-साहित्य आम जनता के लिए था जो उस समय की बोलचाल की भाषा को समझती थी।

जैन-साहित्य—वज्रसेन सूरि का 'भारतेश्वर'—बाहुबली—घोर राजस्थानी का प्राचीनतम ग्रन्थ है। यह ४६ पद्यांशों का एक छोटा-सा काव्य है। यह नागपुरीय तपागच्छ देवसूरि के शिष्य वीरसेन के द्वारा लिपिबद्ध किया गया है। शालिभद्रसूरि राजस्थानी का प्रथम प्रसिद्ध लेखक है। उसने 'भरत' बाहुबली-रास सन् ११८६ में देशी लय में लिखा तथा इसी प्रकार के रास और अन्य वर्णनात्मक काव्य इस काल के मध्य तक लिखे जाते रहे। विनयचन्द्र के समान जिन पद्म (१३३०) का 'शालिभद्र फाग' एक आकर्षक ऋतु-काव्य है। इसी प्रकार के अन्य आनन्ददायी काव्यों में सोम सुन्दर (१४२८) का 'नेमिनाथ नवरस फाग' और १५वीं शताब्दी के एक अज्ञात कवि का 'वसन्त विलास' है। कुशल लाभ ने दो रोमांटिक-काव्य 'ढोला मारू चौपाई' और माधवानल 'काम कन्दल' चौपाई १६वीं शताब्दी के मध्य में लिखे। उसने 'पिंगल शिरोमणि' नामक छन्द और अलंकार का ग्रन्थ भी लिखा। समय सुन्दर (१५८०-१६४२) ने लम्बे ग्रन्थ और कई छोटे काव्य और पद लिखे। उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना 'सीताराम चौपाई' है। जिन समुद्र सूरि और जिनहर्ष ने जसराज के साथ मिलकर बहुत से ग्रन्थ लिखे जिनसे राजस्थानी का साहित्य भरा-पूरा हो गया। जसराज के प्रेम और शृंगार के दूहे प्रसिद्ध हैं। उदयराज दूसरा दूहा-लेखक था जिसके दूहे बहुत लोकप्रिय हो गए। तेरापन्थी लेखकों में सबसे अधिक उल्लेखनीय जीतमल था जिसका 'भगवती सूत्र' का राजस्थानी ढाल में रूपान्तर राजस्थानी की सबसे बड़ी रचना है।

जैनियों को बहुत बड़ा श्रेय इस बात का भी मिलना चाहिए कि उन्होंने राजस्थान के जैन तथा अजैन दोनों प्रकार के साहित्य को सुरक्षित रक्खा। कई अजैन-साहित्य के आवश्यक ग्रन्थ जो अन्यत्र दुर्लभ हैं, जैन-भण्डार में मिल जाएँगे। उन्होंने प्रान्त के बिखरे हुए साहित्य को सुरक्षित रखने में सहायता भी दी है।

लोक-साहित्य—लोक साहित्य में सबसे अधिक उल्लेखनीय रचना 'ढोला-मारू-रा दूहा' [illegible] है। [illegible], वात्सल्य, [illegible], करुणा, विलाप, हास्य, प्रेम और [illegible]—सब इसमें उपलब्ध हैं। इसी कारण इसके दूहे इतने लोक-प्रिय हो [illegible] की कहानी ने आम जनता में बहुत प्रसार पाया। इसकी रचना [illegible]। दूसरी कहानी, जो इसी प्रकार कई बार दुहराई जा चुकी है, वह [illegible]' है। १५५६ में लिखी गई [illegible] गणपति की रचना 'माधवानल

दोग्धक प्रबन्ध' सबसे प्राचीन और सर्वोत्तम है। राजा विक्रमादित्य ने लोक-कल्पना को ध्यान मे रखकर सफल प्रयोग किए और कई कहानियाँ लिखी, जिनमे अदम्य उत्साह, वीरता, उदारता और महानता का चित्रण किया। पञ्चतन्त्र की कहानियाँ भी किसी-न-किसी रूप मे दुहराई गई। राजस्थान की जनता मे दूसरे लोकप्रिय काव्य और जो निम्न श्रेणी के लोगों के द्वारा लिखे गए वे हैं, 'हरजी रो व्याहलो' अथवा 'रुक्मिणी मगल' और 'नरसी जी रो माहेरो'। वे सामान्यतया पेशेवर वाचकों के द्वारा रात्रि मे गाए जाते हैं, जबकि स्त्रियाँ और पुरुष अपने घर का धंधा समाप्त करके वहाँ सुनने के लिए इकट्ठे होते है। 'व्याहलो' रुक्मिणी के कृष्ण के साथ हुए विवाह की कहानी कहता है। यह पद्म नाम के तेली के द्वारा रचा गया था। 'माहेरा' रत्ने खाती की रचना है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार कृष्ण ने नरसी को अपनी बेटी का माहेरा देने में मदद की। यह एक छोटा-सा सुन्दर काव्य है, जिसमे करुणा और व्यंग्य एक साथ प्रवाहित होते हैं।

'खयाल' दूसरे प्रकार का लोक-काव्य है जो क्रमशः अधोगति को प्राप्त हो गया। 'जिन माता रो गीत' और 'डूंगजी जवारजी रो गीत' दो बहुत लोकप्रिय वीर-काव्य हैं, जो किसी भी अन्य भाषा के श्रेष्ठ काव्यो के सम्मुख रखे जा सकते हैं। भक्त-कवियो मे सबसे अधिक प्रसिद्ध मीराबाई है जो उत्तरी भारत की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री है। उसके पद उसकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। ये पद लोकप्रियता की चरम सीमा तक पहुँच चुके हैं, और ऐसा केवल राजस्थान और गुजरात मे ही नहीं हुआ, अपितु बंगाल और मद्रास के दूर प्रदेशो से युक्त समस्त देश मे इन पदो की पहुँच हुई। चन्द्रसखी के भजन मीराबाई के पदो के समान ही लोकप्रिय हैं। भक्तवर अपने किस्म के विशिष्ट भक्त कवि हुए है। राजस्थानी समाज के निम्नश्रेणी के लोग और खासतौर पर ग्रामीण लोग सिद्धो के प्रभाव मे रहे हैं जिनमे पाबूजी, रामदेवजी, गोगोजी, जाम्होजी और तेजोजी अधिक लोकप्रिय थे।

वीर-चारण साहित्य—नरपति नाल्हा ने (जो अपने-आपको व्यास कहा करता था) सन् १२१५ मे अपने 'वीसलदेव रासो' की रचना की। यह तथाकथित ऐतिहासिक काव्य कन्हाद दे के समय की कोलोगिल भाषा मे लिखा गया। पद्मनाभ (एक ब्राह्मण) जालोर के चौहान राजकुमार कन्हाद्दे के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन करता है। ढाढी बहादर का 'वीरामायन', श्रीधर ब्राह्मण का 'रणमल्ल छन्द' और शिवदास चरण का 'अचलदास खीचीरी' वाचनिक भट्ट-शैली के अग्रगण्य ग्रन्थ कहे जा सकते है। १५३५ ई० मे बीठू सूजोनगर जोत ने 'राव जैतसीराव छन्द' की रचना की, जो राजस्थानी साहित्य-मुकुट का प्रोज्ज्वल रत्न है। काव्य का विषय बीकानेर के राव जैतसी से हुमायूँ के भाई कामरा की पराजय है। इसकी भाषा मे प्रवाह है, नही, तूफान है, वीरत्व की अदम्य-शक्ति है। शैली का यह प्रवाह, यह सारल्य और उसकी आडम्बरहीनता अतुलनीय हैं। बारह ईसरदास भट्ट कवियो मे शिरोमणि माना जाता है। उसकी सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ 'हरिरस देवीयान' और 'हालाँ झालाँ रा कुण्डलियाँ' है। 'हरिरस' ने स्तोत्र का स्थान ग्रहण कर लिया है—बहुत से लोग इसका पाठ गीता अथवा सहस्रनाम की तरह किया करते है। 'देवीयान' मे देवी के पराक्रम का वर्णन है। 'कुण्डलियाँ' वीररस के सर्वश्रेष्ठ राजस्थानी-काव्यों मे से एक है। इसके अतिरिक्त उसने बहुसंख्या मे चारणगीत और अन्य विविध कविताएँ रची।

पृथ्वीराज राठौर राजस्थानी कवियो मे सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त हैं। वे बीकानेर के राजघराने मे जन्मे थे और अकबर के दरबार मे रहा करते थे। वे एक महान् योद्धा के साथ-साथ

महान् भक्त भी थे। अपनी वीरता के कारण उन्होंने गागरोगढ की जागीर जीत ली थी। भक्तमाल के नाभाजी ने उन पर एक कवित्त लिखा है, जिसके बाद उनकी भक्ति के विषय में कहने को कुछ भी बाकी नहीं रहता। पृथ्वीराज की सर्वोत्तम रचना 'किसन रुक्मिणी री वेलि' है जिसमें कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह का वर्णन है। काव्य के उत्तरार्द्ध में षड्ऋतु-वर्णन है, जिसमें वसन्त को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। डॉ० टेसीटरी ने 'वेलि' को राजस्थानी साहित्य की समृद्ध खान का देदीप्यमान रत्न कहा है। 'वेलि' अत्यन्त लोकप्रिय रचना सिद्ध हुई और उसने एक धर्म ग्रन्थ का स्तर प्राप्त कर लिया। इस पर लिखी गई दर्जनों सजीवनी टीकाएँ हैं, जिनमें से दो संस्कृत में लिखी गई हैं।

माधोदास ने अपने 'रामरासो' में 'रामायण' की कथा कही। ढूलो सैन्दो ने 'रुक्मिणी-हरण' और 'नागदमन' की रचना की। आढा दुरसा चारण कवियों में बहुत प्रसिद्ध हो चुका है जिसने महाराणा प्रताप की प्रशंसा में 'विरद छिहतरी' लिखी। आढा किसना 'महादेव पारवती री वेलि' का रचयिता था। खिड़ियो जोगो का वाचनिक प्रकार का ग्रन्थ 'रतन महेसदासोत री वाचनिक' अपने-आपमें एक सर्वोत्तम नमूना है। करणीदान का 'सूरजप्रकाश' और वीरभान का राजरूपक दो सुदीर्घ वीरकाव्य हैं। कृपाराम ने 'राजिया रा दूहा' लिखा जो राजस्थान-भर में सुविख्यात है। मनसाराम ने 'रघुनाथ-रूपक' नामक अलंकार-छन्द-गीत के ग्रन्थ की रचना की। कवि रामनाथ का 'द्रौपदी-करुणा-बत्तीसी' एक विशिष्ट प्रकार का लघुकाव्य है। आढ़ो ओप ने भक्ति-वैराग्य के गीत-कवित्त लिखे। वह महान् प्रतिभासम्पन्न कवि था। उत्तर मध्यकालीन के दो कलाकार—जोधपुर के आसियो बांकीदास और बूँदी के सूर्यमल्ल मिश्रण - थे, जिनमें बांकीदास महान् विद्वान और उच्चकोटि के इतिहासकार थे, जिन्होंने राजस्थान के राजाओं को अंग्रेजी राज्य के सामने समर्पण करते देख अपनी कविता का विषय बनाया था, और उनको दृढ़ आवाज में ललकारा था। मिश्रण सूर्यमल्ल चारण-जाति में सबसे अधिक विद्वान् थे, उनका भाषा पर पूरा प्रभुत्व था—उनका 'वंश भास्कर' तथ्यों का भण्डार सिद्ध हुआ। दो हजार पृष्ठों से बड़ा यह महाकाव्य बूँदी के चौहानों का इतिहास है जो सुदीर्घ राजस्थानी गद्य-शैली का अनुसरण करते हुए पिंगल में लिखा गया है। इनकी अन्य आवश्यक रचना 'वीर सतसई' है जिसमें वीररस के सात सौ दोहे संग्रहीत हैं। इनके अतिरिक्त राजस्थानी में कई हजार दूहे और गीत इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। राजियो, भैरियो, जेठियो, नागजी आदि के दूहे राजस्थानी जनता के हृदय में घर किए हुए हैं।

गद्य-साहित्य—प्राचीनतम राजस्थानी गद्य जैनियों की लेखनी का ही है। संग्रामसिंह की 'बालशिक्षा' (१२८०) और कुलमन्डन की 'मुग्धावबोध औक्तिक' (१३६३) रचनाएँ प्राचीन राजस्थानी में की गई संस्कृत व्याकरण की टीकाएँ (पाठ्य-पुस्तकों के रूप में) हैं। ऐसे बहुत से औक्तिक लिखे गए। जैनी साधुओं ने गद्य में धर्मकथाएँ इसलिए लिखीं कि इससे उनके उपदेश लोकप्रिय हो जाएँ। 'उनका गद्य सुनिश्चित, प्रवाहपूर्ण और साभिव्यक्ति था'। ऐसी कथाओं का प्राचीनतम लेखक तरुणप्रभ (१३५५) था। सोमसुन्दर (१३७३–१४४२) और पार्श्वचन्द्र दो अन्य उल्लेखनीय [illegible] सुनिश्चित, कलात्मक धर्मकथा-गद्य माणिक्यचन्द्र के 'पृथ्वीचन्द्र चरित' में उपलब्ध होता है। कथा अत्यन्त सुन्दर ढंग से कही गई है। इसकी भाषा विश्लेषणात्मक [illegible] है। राजस्थानी गद्य के इतिवृत्तों में इतिहास, वंशावली, जीवन-चरित्र, [illegible], [illegible] वार्ताएँ और प्रेम कहानियाँ आदि समस्त विषय पूर्णरूप में प्राप्त

दोग्धक प्रबन्ध' सबसे प्राचीन और सर्वोत्तम है। राजा विक्रमादित्य ने लोक-कल्पना को ध्यान में रखकर सफल प्रयोग किए और कई कहानियाँ लिखीं, जिनमें अदम्य उत्साह, वीरता, उदारता और महानता का चित्रण किया। पञ्चतन्त्र की कहानियाँ भी किसी-न-किसी रूप में दुहराई गईं। राजस्थान की जनता में दूसरे लोकप्रिय काव्य और जो निम्न श्रेणी के लोगों के द्वारा लिखे गए वे हैं, 'हरजी रो ब्याहलो' अथवा 'रुक्मिणी मंगल' और 'नरसी जी रो माहेरो'। वे सामान्यतया पेशेवर वाचकों के द्वारा रात्रि में गाए जाते हैं, जबकि स्त्रियाँ और पुरुष अपने घर का धंधा समाप्त करके वहाँ सुनने के लिए इकट्ठे होते हैं। 'ब्याहलो' रुक्मिणी के कृष्ण के साथ हुए विवाह की कहानी कहता है। यह पद्म नाम के तेली के द्वारा रचा गया था। 'माहेरा' रतने खाती की रचना है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार कृष्ण ने नरसी को अपनी बेटी का माहेरा देने में मदद की। यह एक छोटा-सा सुन्दर काव्य है, जिसमें करुणा और व्यंग्य एक साथ प्रवाहित होते हैं।

'खयाल' दूसरे प्रकार का लोक-काव्य है जो क्रमशः अधोगति को प्राप्त हो गया। 'जिन माता रो गीत' और 'डूँगजी जवारजी रो गीत' दो बहुत लोकप्रिय वीर-काव्य हैं, जो किसी भी अन्य भाषा के श्रेष्ठ काव्यों के सम्मुख रखे जा सकते हैं। भक्त-कवियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध मीराबाई हैं जो उत्तरी भारत की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री हैं। उसके पद उसकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। ये पद लोकप्रियता की चरम सीमा तक पहुँच चुके हैं, और ऐसा केवल राजस्थान और गुजरात में ही नहीं हुआ, अपितु बंगाल और मद्रास के दूर प्रदेशों से युक्त समस्त देश में इन पदों की पहुँच हुई। चन्द्रसखी के भजन मीराबाई के पदों के समान ही लोकप्रिय हैं। भक्तवर अपने किस्म के विशिष्ट भक्त कवि हुए हैं। राजस्थानी समाज के निम्नश्रेणी के लोग और खासतौर पर ग्रामीण लोग सिद्धों के प्रभाव में रहे हैं जिनमें पाबूजी, रामदेवजी, गोगोजी, जाम्होजी और तेजोजी अधिक लोकप्रिय थे।

वीर-चारण साहित्य—नरपति नाल्हा ने (जो अपने-आपको व्यास कहा करता था) सन् १२१५ में अपने 'वीसलदेव रासो' की रचना की। यह तथाकथित ऐतिहासिक काव्य कह्वाद दे के समय की कोलोगिल भाषा में लिखा गया। पद्मनाभ (एक ब्राह्मण) जालोर के चौहान राजकुमार कह्वादे के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन करता है। ढाढी बहादर का 'वीरामायन', श्रीधर ब्राह्मण का 'रणमल्ल छन्द' और शिवदास चरण का 'अचलदास खीचीरी' वाचनिक भट्ट-शैली के अग्रगण्य ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। १५३५ ई० में बीठू सूजोनगर जोत ने 'राव जैतसीराव छन्द' की रचना की, जो राजस्थानी साहित्य-मुकुट का प्रोज्ज्वल रत्न है। काव्य का विषय बीकानेर के राव जैतसी से हुमायूँ के भाई कामरा की पराजय है। इसकी भाषा में प्रवाह है, नहीं, तूफान है, वीरत्व की अदम्य-शक्ति है। शैली का यह प्रवाह, यह सारल्य और उसकी आडम्बरहीनता अतुलनीय हैं। बारह ईसरदास भट्ट कवियों में शिरोमणि माना जाता है। उसकी सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ 'हरिरस देवीयान' और 'हालाँ भालाँ रा कुण्डलियाँ' हैं। 'हरिरस' ने स्तोत्र का स्थान ग्रहण कर लिया है—बहुत से लोग इसका पाठ गीता अथवा सहस्रनाम की तरह किया करते हैं। 'देवीयान' में देवी के पराक्रम का वर्णन है। 'कुण्डलियाँ' वीररस के सर्वश्रेष्ठ राजस्थानी-काव्यों में से एक है। इसके अतिरिक्त उसने बहुसंख्या में चारणगीत और अन्य विविध कविताएँ रचीं।

पृथ्वीराज राठौर राजस्थानी कवियों में सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त है। वे बीकानेर के राजघराने में जन्मे थे और अकबर के दरबार में रहा करते थे। वे एक महान् योद्धा के साथ-साथ

महान् भक्त भी थे। अपनी वीरता के कारण उन्होंने गागरोणगढ की जागीर जीत ली थी। भक्तमाल के नाभाजी ने उन पर एक कवित्त लिखा है, जिसके बाद उनकी भक्ति के विषय मे कहने को कुछ भी बाकी नही रहता। पृथ्वीराज की सर्वोत्तम रचना 'किसन रुक्मिणी री वेलि' है जिसमें कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह का वर्णन है। काव्य के उत्तरार्द्ध मे षड्ऋतु-वर्णन है, जिसमे वसन्त को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। डॉ० टेसीटरी ने 'वेलि' को राजस्थानी-साहित्य की समृद्ध खान का देदीप्यमान रत्न कहा है। 'वेलि' अत्यन्त लोकप्रिय रचना सिद्ध हुई और उसने एक धर्म ग्रन्थ का स्तर प्राप्त कर लिया। इस पर लिखी गई दर्जनो सजीवनी टीकाएँ हैं, जिनमे से दो सस्कृत मे लिखी गई है।

माधोदास ने अपने 'रामरासो' मे 'रामयण' की कथा कही। हूलो सैनो ने 'रुक्मिणी-हरण' और 'नागदमन' की रचना की। आढ़ा दुरसा चारण कवियो मे बहुत प्रसिद्ध हो चुका है जिसने महाराणा प्रताप की प्रशसा मे 'विरद छिततरी' लिखी। आढ़ा किसना 'महादेव पारवती री वेलि' का रचयिता था। खिरियो जोगो का वाचनिक प्रकार का ग्रन्थ 'रतन महेसदासोट री वाचनिक' अपने-आपमे एक सर्वोत्तम नमूना है। करणीदान का 'सूरजप्रकाश' और वीरभान का राजरूपक दो सुदीर्घ वीरकाव्य हैं। कृपाराम ने 'राजिया रा दूहा' लिखा जो राजस्थान-भर मे सुविख्यात है। मनसाराम ने 'रघुनाथ-रूपक' नामक अलकार-छन्द-गीत के ग्रन्थ की रचना की। कवि रामनाथ का 'द्रौपदी-करुणा-बत्तीसी' एक विशिष्ट प्रकार का लघुकाव्य है। आढ़ो ओप ने भक्ति-वैराग्य के गीत-कवित्त लिखे। वह महान् प्रतिभासम्पन्न कवि था। उत्तर मध्यकालीन के दो कलाकार—जोधपुर के आसियो बाकीदास और बूँदी के सूर्यमल्ल मिश्रण - थे, जिनमे बाकीदास महान् विद्वान और उच्चकोटि के इतिहासकार थे, जिन्होने राजस्थान के राजाओ को अंग्रेजी राज्य के सामने समर्पण करते देख अपनी कविता का विषय बनाया था, और उनको दृढ़ आवाज मे ललकारा था। मिश्रण सूर्यमल्ल चारण-जाति मे सबसे अधिक विद्वान् थे, उनका भाषा पर पूरा प्रभुत्व था—उनका 'वश भास्कर' तथ्यों का भण्डार सिद्ध हुआ। दो हजार पृष्ठों से बड़ा यह महाकाव्य बूँदी के चौहानों का इतिहास है जो सुदीर्घ राजस्थानी गद्य-शैली का अनुसरण करते हुए पिंगल मे लिखा गया है। इनकी अन्य आवश्यक रचना 'वीर सतसई' है जिसमें वीररस के सात सौ दोहे संग्रहीत हैं। इनके अतिरिक्त राजस्थानी में कई हजार दूहे और गीत इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। राजियो, भैरियो, जेठियो, नागजी आदि के दूहे राजस्थानी जनता के हृदय मे घर किए हुए हैं।

गद्य-साहित्य—प्राचीनतम राजस्थानी गद्य जैनियों की लेखनी का ही है। संग्रामसिंह की 'बालशिक्षा' (१२८०) और कुलमन्डन की 'मुग्धबोध औक्तिक' (१३६३) रचनाएँ प्राचीन राजस्थानी में की गई सस्कृत व्याकरण की टीकाएँ (पाठ्य-पुस्तकों के रूप मे) हैं। ऐसे बहुत से औक्तिक लिखे गए। जैनी साधुओं ने गद्य मे धर्मकथाएँ इसलिए लिखीं कि इससे उनके उपदेश लोकप्रिय हो जायें। 'उनका गद्य सुविकसित, प्रवाहपूर्ण और साभिव्यक्ति था'। ऐसी कथाओ का प्राचीनतम लेखक तरुणप्रभ (१३५५) था। सोमसुन्दर (१३७३–१४४२) और पार्श्वचन्द्र दो अन्य उल्लेखनीय लेखक थे किन्तु सुविकसित, कलात्मक धर्मकथा-गद्य माणिक्यचन्द्र के 'पृथ्वीचन्द्र चरित' में उपलब्ध होता है। कथा अत्यन्त सुन्दर ढग से कही गई है। इसकी भाषा विश्लेषणात्मक और सगीतमयी है। राजस्थानी गद्य के इतिवृत्तो मे इतिहास, वंशावली, जीवन-चरित्र, पौराणिक आख्यान, ऐतिहासिक गाथाएँ और प्रेम कहानियाँ आदि समस्त विषय पूर्णरूप में प्राप्त

होते हैं। इतिवृत्तों में सबसे उल्लेखनीय रचना 'ख्यात' और 'वात' होती है। 'ख्यात' के ख्यातनामा लेखकों में नयनसी मुहनोत, बांकीदास आसिया और दयालदास सिन्धायच आदि अग्रणी हैं। नयनसी जैन था और जोधपुर महाराज जसवन्तसिंह का मन्त्री था। वह राजस्थान का अबुलफजल कहलाता था। उसका 'ख्यात' राजस्थान में तत्कालीन राजपूतों की विभिन्न जातियों के इतिहास का परिचायक है। उसने जोधपुर राज्य का 'राजपत्र' भी लिखा था। नयनसी का 'ख्यात' राजस्थानी गद्य का एक अपूर्व उदाहरण है। बांकीदास का 'ख्यात' गाथाओं का संग्रह है, जो इतिहास के मूल्यवान् सामग्री है। दयालदास ने बीकानेर राज्य के तीन बड़े-बड़े इतिहास लिखे। 'दलपत विलास' बीकानेर महाराज रायसिंह के उत्तराधिकारी पुत्र राजा दलपतसिंह का जीवन-चरित्र है। दुर्भाग्य से यह अपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त सैकड़ों लोकप्रिय 'वातें' लिखी गई हैं जिनमें धार्मिक, वीररसपूर्ण, व्यंगप्रधान, प्रेम-रोमास-उत्साह-वर्द्धक कहानियाँ सन्निहित हैं। उदाहरणार्थ एक 'लागीड़ा' 'चौबोली' 'राजाभोज और खाफरा चोर', 'राजा भोज', 'पण्डित माघ' एवं प्राचीन स्त्री-साहित्य यथा—'जासाम ओडनी' 'फोपानन्द' 'सयानी चारणी' 'चन्दा और मलयागरी', 'खुदा बावली' 'पलक दरियाव' 'राजकुमार कुतुबदी'। 'खीची गगेव नींबावत रो दोपहरो' एक कलात्मक गद्य-कथा है, जिसका लेखक अभी तक अज्ञात है।

(ग) आधुनिक काल

पद्य—आधुनिक साहित्य का आरम्भ देश के पाश्चात्य सम्पर्क और राष्ट्रीय जागरण के साथ-साथ माना जा सकता है। मातृभाषा के साहसी सपूतों ने राजस्थानी के लिए अपनी आवाज बुलन्द की, और यद्यपि उनको बहुत-कम दूसरी सहायता मिली, पर वे दृढता से अपने कार्य को आगे बढ़ाते गए। इन प्रयत्नों से राजस्थानी साहित्य को नया मोड लेने में सही प्रेरणा मिली।

बारठ केशरीसिंह सौदा राजस्थानी कविता में राष्ट्रीय-जागरण की भावनाओं के अग्रणी कवि थे। उनके क्रान्तिकारीय राजनीतिक कार्यों के कारण उनकी जागीर छीन ली गई। उनका पुत्र प्रतापसिंह—राजस्थानी नवयुवकों का प्यारा प्रताप जेल में डाल दिया गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई। केशरीसिंह की कविता ब्रिटिश साम्राज्यवाद और राजस्थान के निरंकुश सामन्तवाद के खिलाफ एक जबरदस्त बगावत है। उसमें आग है—आग की लपटें हैं। उमरदान की कविता अधिकतर व्यंग-प्रधान है। उसका सर्वश्रेष्ठ काव्य 'छप्पनरो' छन्द संवत् १९५६ वि. (१८९९–१९००) के भयंकर दुर्भिक्ष का स्पष्ट और यथार्थ चित्रण है। मेवाड़ राज्यवंश के महाराज छत्तरसिंह एक महान् योगी थे, उनकी कविता भक्ति-वैराग्य की भावना से ओतप्रोत है। उनकी दो कविताएं 'नारी' और 'मरणो जाणनो' बहुत लोकप्रिय हुई। स्वामी चतुर्भुजदास निरंजनी का 'भवानी मंगल' एक सुन्दर प्रबन्ध-काव्य है जो 'रुक्मिणी-मंगल' के आधार पर लोकप्रिय शैली में रचा गया है। हिंगलाजदान व्यंग का अद्भुत कवि है। उसका सर्वप्रिय काव्य 'माई महिमा' प्राचीन चारण-शैली में लिखा गया है। उदयराज ने राष्ट्रीय आन्दोलन और उसमें भाग लेने वाले वीरों के प्रशस्तिगीत गाए। उसका 'धूंडसार' इसका उदाहरण है। नाथूराम महियारिया केशरीसिंह का अनुगामी था जिसने 'वीरसतसई' लिखी।

राजस्थानी की नई धारा के प्रथम कवि ठाकुर रामसिंह हैं, जिन्होंने राजस्थानी के पुनरोत्थान का नेतृत्व किया और प्रथम अखिल-भारतीय राजस्थानी-साहित्य सम्मेलन के

सभापतित्व का उत्तरदायित्व निभाया। 'मरु-मयंक', 'मेह और धरा' उनके सर्वोत्तम काव्य है जो उनके प्रकृति, मानवता और मातृभूमि सम्बन्धी प्रेम के मूर्त उदाहरण है। उनका 'मातृभाषा रो गीत' राजस्थानी का वन्देमातरम् बन गया। राजस्थानी लोकगीतो का अलौकिक संग्रहकर्ता गणपति स्वामी स्वयं उच्चकोटि का कवि है। उसकी कविताएँ उतनी ही आनन्ददायक हैं जितने उच्चकोटि के लोकगीत, और कभी-कभी तो दोनो मे अन्तर करना कठिन हो जाता है। उसकी सर्वोत्तम कविता लोरी है। मुरलीधर व्यास और भोमराज के दूहे बड़े लोकप्रिय है। कन्हैयालाल सेठिया का नये कवियो मे एक उच्चकोटि का व्यक्तित्व है। उसका 'पातल और पीथल' (प्रताप और पृथ्वीराज) पृथ्वीराज के द्वारा महाराणा प्रताप को दिये पत्र, और उनके उत्तर की अनूठी अभिव्यक्ति है। चन्द्रसिंह प्रकृति का कवि है। उसकी 'बादली' और 'लू' क्रमशः वर्षा और गरमी का अपूर्व चित्रण है। उसने कालिदास के 'रघुवंश' का राजस्थानी-पद्य मे सफल अनुवाद किया है। नानूराम ग्रामीण प्रकृति और ग्राम्यजीवन का कवि है। उसकी 'कलायण' रचना राजस्थान के देहाती-जीवन का यथार्थरूप सामने रख देती है। उसका दूसरा प्रसिद्ध काव्य 'मुरधर रा दस देव' है। जयनरायण व्यास ने भी राजस्थानी मे अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है।

अन्य प्रसिद्ध कवियो मे मोतीसिंह, दुर्गादत्त शास्त्री, मुन्नालाल पुरोहित, मेघराज 'मुकुल', मालदान 'मनुज', रेंवतदान चारण 'कल्पित', घोकलसिंह, कविवर 'शलभ' और श्रीमन्तकुमार आदि हैं जिन्होने राजस्थानी को नये स्तर पर ला खड़ा किया है। राजस्थानी को अपनी नई पीढ़ी से बहुत-कुछ पाने की आशा है।

गद्य :—शिवचन्द्र भारतीय राजस्थानी का प्रथम नाटककार है। उसने तीन नाटक लिखे है–(१) 'केशरविलास', (२) 'बुढापे की सगाई' और (३) 'फाटका जंजाल'। भगवतीप्रसाद दारुका ने पाँच नाटक लिखे जो एक ही जिल्द मे 'मारवाड़ी पाँच नाटक' के रूप मे प्रकाशित हुए। इनमें सामाजिक बुराइयो का यथार्थ चित्रण है। 'बोलवना' सूर्यकरण पारीक का राजपूती वीरता को लेकर लिखा गया एक छोटा नाटक है। श्रीनाथ मोदी का 'गोमा जाट' ग्रामीण-समस्याओं पर एकाकी नाटक है। मुरलीधर व्यास ने कई एकाकी लिखे हैं।

आधुनिक राजस्थानी-साहित्य मे उपन्यासो का अभाव है। शिवचन्द्र भारतीय का 'कनक-सुन्दर' एक छोटा उपन्यास है जिसका केवल प्रथम भाग ही प्रकाशित हो पाया है। मुरलीधर व्यास ने कई छोटी कहानियाँ लिखी हैं जो अधिकांशतः सामाजिक और गार्हस्थ्य जीवन को लेकर हैं। मुन्नालाल ने भी कुछ कहानियाँ राजस्थानी वीरता को बताते हुए लिखी हैं।

गद्य-लेखकों मे गुलाबचन्द नागोरी, अगरचन्द नाहटा, भँवरलाल नाहटा और चन्द्रसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। जयनारायण व्यास और हीरालाल शास्त्री ने भी यथाशक्ति प्रयास किया है। भँवरलाल नाहटा का 'लाभू बाबू' बहुत सुन्दर रेखा-चित्र है। ठाकुर रामसिंह का सभापति-पद से दिया गया भाषण राजस्थानी-गद्य का अच्छा उदाहरण है और रामकरण आसोपा का भगवत्गीता का अनुवाद भी उल्लेखनीय है। इधर श्रीमन्तकुमार ने निबन्ध, रेखाचित्र, कहानी और एकाकी साहित्य मे सन्तोषजनक प्रयास किया है। रामदत्त सेंकृत ने ग्रामीण वातावरण पर अनेक कहानियाँ लिखी हैं।

विविध साहित्य

राजस्थानी का प्रथम व्याकरण रामकरण आसोपा के द्वारा सन् १८९६ में लिखा गया

था। डॉ० टेसीटरी ने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के व्याकरण पर अपनी टिप्पणियाँ 'इण्डियन एन्टीक्विटी' में सन् १९१४ से १९१६ तक प्रकाशित करवाई। डॉ० टेसीटरी सबसे बड़ा यूरोपीय राजस्थानी-वेत्ता था। वह इटलीनिवासी था और उसने इटली में ही राजस्थानी हस्तलिपि की सहायता से राजस्थानी को सीखा था। १९१४ में ब्रिटिश सरकार ने उसे भट्ट-साहित्य के अन्वेषण करने के निमित्त निरीक्षक के रूप में नियुक्त किया था। टेसीटरी को राजस्थानी से बहुत प्रेम था, जिसके लिए उसने अपना जीवन ही समर्पित कर दिया था। उसने 'डिंगल' की तीन कविताएँ सम्पादित की और हस्तलिखित चारण-साहित्य के ग्रन्थों की तीन सूचिकाएँ प्रकाशित करवाई।

मुरारीदान मिसन ने 'अमरकोष' टाइप का 'राजस्थानी शब्दकोष' प्रकाशित कराया। रामकरण आसोपा ने नए आधार पर एक बड़ा 'राजस्थानी शब्दकोष' तैयार किया, पर दुर्भाग्य से वह प्रकाशित न हो सका। दूसरा विशाल कोष 'राजस्थानी-हिन्दी-शब्दकोष' बीकानेर के राजस्थानी-साहित्य पीठ और सादुल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीच्यूट के तत्वावधान में तैयार किया जा रहा है, जिसके प्रधान सम्पादक का उत्तरदायित्व इन पंक्तियों के लेखक के कन्धों पर है। प्रस्तुत लेखक ने एक संक्षिप्त राजस्थानी व्याकरण भी तैयार की है जो छात्रों के लिए विशेष उपयोगी है। इसी लेखक का 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' उन तीन भाषणों का सिरीज है जो सन् १९४५ में उदयपुर विद्यापीठ में दिये गए थे। इस सिरीज में राजस्थानी भाषा और साहित्य का संक्षिप्त इतिहास है। डॉ० सुनीतिकुमार ने भी वहीं पर सन् १९४७ में 'राजस्थानी भाषा' पर अपना भाषण दिया था। मोतीलाल मेनारिया ने 'राजस्थान का इतिहास' हिन्दी और राजस्थानी दोनों भाषाओं में लिखा है।

मुरलीधर व्यास, लक्ष्मीलाल जोशी, जगदीशसिंह गहलोत, गणपति स्वामी, अगरचन्द नाहटा और कन्हैयालाल सहल ने राजस्थानी कहावतों का संकलन और सम्पादन किया है। मुरलीधर व्यास और नरोत्तमदास स्वामी द्वारा सम्पादित 'राजस्थानी कहावता' सबसे बड़ा और अच्छा संकलन है। मुरलीधर व्यास ने राजस्थानी मुहावरों का एक बड़ा सकलन किया है।

राजस्थान के लोकगीतों का प्रथम प्रशंसनीय संग्रह जगदीशसिंह गहलोत ने प्रकाशित करवाया था। इस विषय पर सर्वोत्तम रचना 'राजस्थान के लोकगीत' (दो भागों में) है जो रामसिंह, सूर्यकरण पारीक और नरोत्तमदास स्वामी द्वारा सम्पादित है। यहाँ गणपति स्वामी का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है जिसने सूर्यकरण पारीक के सफल नेतृत्व में राजस्थानी लोकगीतों का विशाल सग्रह किया है।

सम्पादकों में ठाकुर भूरसिंह (विविध संग्रह और महाराणा यश प्रकाश) मुन्सिफ देवीप्रसाद (राजरसनामृत, महिला मृदुवाणी, कविता-रत्नावली), पुरोहित हरनारायण (सुन्दर-ग्रन्थावली), रामकरण आसोपा (वंश-भास्कर, नयनसी री ख्यात आदि) डॉ० दशरथ शर्मा (दयालदास री ख्यात), अगरचन्द नाहटा (ऐतिहासिक जैन-काव्य, सीताराम चौपाई आदि), दीनानाथ खत्री (दयालदास री ख्यात और दलपत विलास), कन्हैयालाल सहल और ईसरदास (वीर सतसई) और नरोत्तमदास स्वामी (राजस्थान रा दूहा, पृथ्वीचन्द्र चरित्र, बांकीदास री ख्यात, राजस्थानी वीर चरित, अचलदास री वाचनिक आदि) के नाम उल्लेखनीय हैं। सबसे अधिक महत्वपूर्ण ठा० रामसिंह और सूर्यकरण पारीक का प्रयास समझा जाना चाहिए जिन्होंने 'वेलि किसन रुक्मिणी', 'ढोला मारू रा दूहा' आदि अनेक अमूल्य ग्रन्थ-रत्नों का सम्पादन किया।

राजस्थानी भाषा और संस्कृति से सम्बन्धित पत्रिकाएँ 'राजस्थानी', 'राजस्थान भारती' और 'शोध-पत्रिका' (उदयपुर विश्व विद्यापीठ) हैं। कई मासिक और साप्ताहिक पत्र समय-समय पर आरम्भ किये गए थे, पर कोई भी जीवित न रह सका।

भारत के स्वतन्त्र होने के साथ-साथ राजस्थान भी एक संगठित प्रान्त बनाया जा चुका है, अतः यह आशा की जाती है कि राजस्थानी भाषा अपने पूर्व गौरव को पुनः प्राप्त करेगी और राजस्थानी साहित्य महत्ता के उच्चतर स्तर को प्राप्त करेगा।



राहुल सांकृत्यायन

मातृभाषाओं का महत्व

देश के पुनर्निर्माण तथा हमारी आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को शीघ्रता से हल करने के लिए मातृभाषाओं का कितना महत्त्व है, अभी इसकी तरफ हमारे भाग्यविधाताओं का ध्यान बिलकुल गया ही नहीं है। कितनी ही औंधी खोपड़ियाँ तो यह स्वीकार करने के लिए भी तैयार नहीं हैं कि मारवाड़ी, मेवाडी, हरियानी, बुन्देली, भोजपुरी, मगही, कुमाऊनी, गढ़वाली आदि भाषाएँ भी अपना अस्तित्व रखती हैं। करोड-करोड तक आदमियों द्वारा बोली जाने वाली इन भाषाओ को कितने ही लोग 'बोली' कहकर छुट्टी ले लेना चाहते हैं, और इसे समझने की आवश्यकता नही महसूस करते, कि ये जीवित भाषाएँ हैं, और अपने क्षेत्र मे जनता के अन्तस्तल तक को छूने के लिए उनका सहारा लेना आवश्यक है। अवधी, व्रज या मैथिली को तुलसीदास, सूरदास और विद्यापति के कारण भुलाया नही जा सकता, किन्तु मालवी, मगही आदि का कोई लिखित साहित्य नहीं मिलता, इसलिए उनके अस्तित्व को स्वीकार करने की आवश्यकता नही समझी जाती। यह स्वाभाविक बात है, जो हिन्दी साहित्यिकों को भी अपनी-अपनी मातृभाषाएँ बहुत प्रिय मालूम होती है, और विसराम के एक बिरहे पर एक भोजपुरी संस्कृत या दूसरी साहित्यिक भाषाओ की हजारों उच्च कविताओं को न्योछावर करने के लिए तैयार हो जाता। जो बात भोजपुरियो के बारे मे है, वही बात दूसरी अलिखित भाषाओ के साहित्य-प्रेमियो की अपने अनपढ़, प्रतिभाशाली कवियो के बारे मे कही जा सकती है। उनका अलिखित रहना खेदजनक जरूर है, शायद यदि उनमें लिखित साहित्य होता, तो उतनी उपेक्षा नही दिखलाई जाती; लेकिन तो भी अवधी, व्रज, मैथिली, मारवाडी (डिंगल) के उदाहरण से हम जानते हैं कि उन्हे अपना स्थान लेने मे तब भी, कम कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता।

उपयोगिता जिसकी साबित की जा सकती है, उसी पक्ष को आज नही, तो कल स्वीकार करने के लिए मजबूर होना पड़ेगा। अपनी-अपनी मातृभाषाओं के साथ हमारा कितना ही प्रेम-मय सम्बन्ध हो, उससे कुछ काम नहीं बनने का। उपयोगिता इन भाषाओ की बहुत अधिक है, यह इसी से मालूम हो सकता है, कि हम इस शताब्दी के अन्त तक भी, अपने यहाँ की निरक्षरता को दूर नहीं कर सकते, यदि प्रारम्भिक-शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा का माध्यम कुमाउनी, गढ़वाली, कौरवी, हरियानी, मारवाडी, मेवाडी, मालवी, व्रज, बुन्देली, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि मातृभाषाओं को नही बनाता। प्रारम्भिक या प्रौढ-शिक्षा के लिए मातृभाषा को माध्यम स्वीकार करते ही हमारी निरक्षरता की समस्या छूमन्तर की तरह हवा हो जाती है, और वह सचमुच नागरी की वर्ण-माला सिखाने भर की समस्या रह जाती है। उसके लिए कितना समय लगाना पड़ेगा, यह आप आसानी से समझ सकते हैं। उच्चारणानुरूप होने से नागरी वर्णमाला का सीखना बहुत आसान है, अधिकतर लोग तो हफ्ते-भर मे उसे सीख सकते है, और एक महीने मे

तो सभी वर्ण-परिचय को समाप्त कर सकते हैं। उसके बाद उनके हाथ में मातृभाषा में छपी पुस्तकें थमा देनी होंगी, और हर प्रौढ़ व्यक्ति अपने-आप अपना अध्यापक बन जायगा। भोजपुरी में छपी 'सोम नयका' 'विहुला', और 'कुंवर-विजई' को अक्षर से नवःपरिचित नर-नारी बड़े चाव से पढ़ने लगेंगे। हमारी दूसरी भाषाओं में भी इस तरह की अलिखित मनोहर कहानियाँ और पँवाड़े मौजूद हैं, जिनको वर्णमाला के साँचे में ढालकर अपने विशाल हिन्दी-प्रदेश की जनता में फैलाया जा सकता है।

यह भी स्मरण रखने की बात है कि मातृभाषा-द्वारा निरक्षरता का अचिरकाल में ध्वस कोई भंग-की-तरग वाली बात नहीं है। रूस ने जो एक दर्जन वर्ष से भी कम समय में अपने यहाँ से निरक्षरता को खतम कर दिया, उसमें प्रधान सहायता मातृभाषाओं के शिक्षा-माध्यम ने स्वीकार करने दी। रूसी, अरमनी, गुरजी आदि एक दर्जन के करीब ही ऐसी भाषाएँ वर्तमान सोवियत-संघ की भूमि में १९१७ ई० की क्रान्ति से पहले थीं, जिनका अपना लिखित-साहित्य था, और जिनमें रूसी भाषा यूरोप की तीन दूसरी प्रधान भाषाओं—जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेजी के समकक्ष थी। रूसियों ने बिना कुछ आगा-पीछा किये मातृभाषा के शिक्षा-माध्यम वाले विचार को सिद्धान्त मान लिया, और याकूत, चुक्ची, किरगिजी, तुर्कमानी आदि कई दर्जन अब तक अलिखित चली आई भाषाओं को सुगम लिपि प्रदान करके लिपिबद्ध कर दिया, और उसी द्वारा बच्चों और प्रौढों को शिक्षा देना जारी कर दिया। इसमें कोई कम्युनिज्म गन्ध नहीं है, न मातृभाषाओं के माध्यम स्वीकार करके हम कोई महापाप करेंगे। निरक्षरता की समस्या को तुरन्त खतम करने का यही एक रास्ता है। हमें प्रौढ़ों की शिक्षा और प्राइमरी के चार वर्ष की शिक्षा को मातृभाषाओं में कर देना चाहिए, चौथे वर्ष या चाहें तो तीसरे ही वर्ष से हम हिन्दी को भी द्वितीय भाषा के तौर पर रख सकते हैं, और प्रारम्भिक अनिवार्य शिक्षा के बाद आज की तरह ही पूर्णिया से जैसलमेर, हिमशिखरों से छत्तीसगढ-नीमाड़ तक हिन्दी को माध्यम बनाए रख सकते हैं। इस प्रकार जहाँ तक माध्यमिक, उच्च-माध्यमिक या उच्च-शिक्षा का सम्बन्ध है, हिन्दी का अपना स्थान अक्षुण्ण रहेगा, और ऐतिहासिक कारणों से हिन्दी ने भारत के जो इतने बड़े भूभाग को एकताबद्ध कर दिया है, उसमें भी कोई बाधा नहीं पड़ेगी, बल्कि नवीन भारत में अपने-अपने प्रदेशों में वहाँ की भाषाओं के सर्व-सर्वापन को कायम रखते, हिन्दी सारे भारतवर्ष में व्यवहार की जाने वाली भाषा बनकर हमारे सारे देश की एकता को दृढ़ करेगी।

ग्राम-पंचायतों के निर्माण के बाद हमारे सामने मातृभाषाओं की उपेक्षा ने अपना दुष्परिणाम दिखलाना शुरू किया। उत्तर-प्रदेश में यदि ग्राम-पचायतों को भोजपुरी, अवधी, कुमाऊँनी, गढ़वाली, कौरवी, व्रज और बुन्देलखण्डी में अपनी लिखा-पढ़ी करने की छुट्टी दे दी जाती, तो सबके लिए कितना सुभीता होता। लेकिन जहाँ पर टेहरी-जैसी रियासत में राजा के शासन के उठने के समय तक लोग हिन्दी में अर्जी दे सकते थे, मुकदमों का फैसला भी उसी में हो सकता था, वहाँ रियासत के विलयन के बाद ही अंग्रेजों के टक्साल के ढले नौकरशाह वहाँ पहुँचे। उन्होंने अंग्रेजी में धड़ाधड़ सूचनाएँ जारी करनी शुरू कीं। अंग्रेजी में फैसले होने लगे, हुक्म निकलने लगे। क्या इसे गगासागर से हिमालय की ओर उलटी गंगा बहाना नहीं कहेंगे? क्या राष्ट्रीय दृष्टि से यह अक्षम्य अपराध नहीं था, जिसके लिए वहाँ के नियुक्त नौकरशाह को चौबीस घण्टे के भीतर कान पकड़कर निकाल देना उचित था? लेकिन यह तो तब हो जब कि

जनता के भावो और सुविधाओं का खयाल रखा जाय और राष्ट्रीय भावना को भी कोई पवित्र पदार्थ माना जाय। राजस्थान में भी यही उलटी गंगा बहाई जा रही है। सचमुच ही इन लोगों को देवो-राजा का डर नहीं है। जब तक दिल्ली मे अंग्रेजी और अग्रेजों के परम-भक्त देवता सिंहासनासीन है, तब तक न जनता की सुविधा का खयाल किया जायगा और न नौकरशाही को उलटी गंगा बहाने से रोका जा सकेगा।

उपयोगिता की दृष्टि से देखने पर निरक्षरता की समस्या तथा पंचायतो, अदालतो और शासन-यन्त्र को जनता की पहुँच के भीतर बनाने के लिए मातृभाषाओं को उनके स्थान पर प्रतिष्ठित करना अत्यावश्यक और उचित है, इस पर और अधिक तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं। इसमे सबसे भयंकर-बाधक वही लोग हैं, जो आकाश-बेल की तरह अपनी जड जमीन मे नहीं रखते, अर्थात् शहरो के निवासी पुश्तो से क्लर्की या दरबारगिरी करते आए नौकरीपेशा सामन्तो के लग्गू-भग्गू परिवार। दुर्भाग्य से आज हमारे शासन-यन्त्र मे इन्हीं आकाश-बेलो का बोलबाला है। उनके दिलों में इन अलिखित किन्तु सबल और मधुर मातृभाषाओं के लिए कोई स्थान ही नही। उन्हे वह अपने अनपढ़ नौकर-चाकरो की भाषा समझकर पुश्तो से घृणा करते चले आए हैं। जब उनमे से कितने अँग्रेजी को अपनी मातृभाषा बनाने की धुन मे थे, और अपने बच्चो ही नहीं, बच्चियो को भी पूरे साहेब और मेम बनाने की धुन में मस्त थे, उस समय तो हिन्दी के ऊपर भी वह नाक-भौं सिकोड़ते थे। फिर इन देहातियों की भाषा के लिए उनके दिल मे कोई कोमल भाव पैदा ही कैसे हो सकता था? यह आकाश-बेलें अब भी दिल से अँग्रेजी को ही हमारे स्वतन्त्र-देश की भाषा बनाए रखना चाहती हैं, तभी तो यूरोपियन स्कूलो और कान्वेंटो मे लड़के-लडकियो की भरमार देखी जाती है। भला अपने सात पीढ़ी तक के लिए इन्तजाम कर जाने पर उतारू यह लोग, अँग्रेजी को सिंहासनाच्युत करके हिन्दी को कैसे शासन-यन्त्र के भीतर घुसने देंगे, और मातृभाषाओं की बात भी सुनने पर क्यो नहीं कान पर उँगली रखेगे? आकाश-बेलो का शासन राष्ट्र के लिये सचमुच ही भारी अभिशाप है। उनका अपना एक छोटा-सा अडे का खोल होता है, जिसके भीतर गूलर के कीड़े की तरह वह सारी दुनिया समझते हैं। लेकिन मातृभाषाएँ अधिक दिनो तक उपेक्षित नहीं रह सकतीं। सभी स्थानो मे विचारशील पुरुष मातृभाषाओं की आवश्यकताओं को मानने लगे है। बिहार-सरकार के शिक्षा-विभाग के एक उच्च अधिकारी (डिप्टी-डाइरेक्टर) तथा गम्भीर विद्वान्, डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने हाल ही मे इस विषय मे 'भोजपुरी' पत्रिका मे भोजपुरी भाषा मे लिखते हुए कहा है—

'अब दुनियाँ मे कौनो देश अइसन एह घरी नइखे, जे ई सिद्धान्त सर्वसम्मति से मान नइखे ले ले कि लगभग एगारह बरिस तक के पढाई—आने प्राइमरी एस्कूल के पढाई—लड़िकन के मातृभाषा मे होखे के चाही। पढ़ाई के दूगो पहलू होला—ग्यान के विषय, आउर ग्यान के भाषागत रूप। एह दूनो मे अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण है ज्ञान के विषय। कौनो माध्यम से पढ़ावल जाव, जेतना ज्ञातव्य विषय हमनी के लड़िकन के देवे के चाहतानी, ओतना मिल गइल, त उद्देश्य सफल समझे के चाहीं। ई बात तबे सम्पन्न हो सकेला, जब पढ़ाई मातृभाषा के माध्यम से होखे। एह दृष्टि से भोजपुरी-प्रदेश मे भोजपुरिए मे आरम्भिक पढाई के भइल बुद्धिसंगत मालूम होता।

"एह विषय के अध्ययन हम स्वयं वेल्श देस मे कइलीं। उहाँ अइसन हिसाब राखल

गइल बा कि सात बरिस के उमिर तक कुल पढ़ाई वेलश भाषा मे होला, ओकरा बाद धीरे-धीरे राजभाषा अँग्रेजी के प्रवेश होखे लागेला, आउर एगारह बरिस के बाद से अँग्रेजी के प्रधानता हो जाला। रूस मे सो से कहीं अधिक भाषा माध्यम के रूप मे प्रचलित बाटे। हँ, 'द्वितीय भाषा' के रूप मे रूसी भाषा पढ़ल जरूरी बा। ओही तरह, हमार-ई व्यक्तिगत राय ह कि, शुरू-शुरू मे भोजपुरी-प्रदेश मे कुल पढाई भोजपुरी में होखे के चाही, आउर आगे चल के हिन्दी (खडी बोली) अनिवार्य रूप से पढावे के चाही।"

डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने प्रारम्भिक-शिक्षा के लिए मातृभाषाओ के माध्यम को स्वीकार करने का जो प्रस्ताव किया है, वह किसी भावुकतावश नही है, बल्कि इसी खयाल से कि देश की जनता मे शत-प्रतिशत साक्षरता लाने का यही एक उपाय है।

यह शुभ चिह्न है जो कि हिन्दी-क्षेत्र मे सर्वत्र अपनी मातृभाषा को आगे लाने का प्रश्न उठाया जा रहा है। अपनी अपनी भाषाओ मे पत्र पत्रिकाएँ भी निकलने लगी है। आरा से निकलने वाली 'भोजपुरी' मासिक-पत्रिका इसका ही एक उदाहरण है। मैथिली भाषा मे भी अपने पत्र निकलते हैं, और उसमे विद्यापति की तरह कविताएं ही नहीं अब तक की जा रही हैं, बल्कि उसके कहानीकार और उपन्यासकार अपनी रचनाओ द्वारा सारे हिन्दी-क्षेत्र मे अपने प्रभाव को फैलाते जा रहे हैं। मालवी, मारवाडी भाषाओं की ओर से भी कुछ इस दिशा मे प्रयत्न होने लगा है, लेकिन अभी तक वह उसकी जन-कथाओं और जन-गीतों के सग्रह के रूप मे ही दिखाई पडता है। वह भी बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण काम है, इसे कहने की आवश्यकता नही। साहित्य के बहुत से अनमोल रत्न अभी लोगो के स्मृति-पटल पर ही अंकित हैं, और यदि उन्हे लिपिबद्ध नहीं किया गया, तो वह काल-कवलित हो जायंगे। विशेषकर पुरानी परम्पराओ को आगे ले चलने वाले वृद्धो-वृद्धाओं की सख्या जिस तेजी से कम हो रही है, उसे देखके हम यह कह सकते हैं; कि यदि दस-पन्द्रह बरस के भीतर भारी परिश्रम से उन्हें लिपिबद्ध कर दिया गया, तो कहना पडेगा अब पछताये होत क्या, जब चिडियां चुग गईं खेत। जो तरुण अपनी-अपनी भाषाओ की इन अनमोल निधियों के सग्रह मे लगे हैं, वह एक बडा ही राष्ट्रीय महत्व का काम कर रहे हैं, और उनके इस काम को आने वाली पीढिया बड़े सम्मान के साथ याद करेंगी। अफसोस यही है कि ऐसे धुन के धनियो की संख्या हर भाषा मे बहुत कम है। गढ़वाली के कितने लोक-गीत, कथा-संग्रह प्रकाशित हुए ? मगही मे कितने लोगो ने इस विषय मे काम किया ? बुन्देलखण्डी की संग्रहीत सामग्री भी शायद कीडों का भोज बन रही है। ब्रज-साहित्य-मंडल ने इस दिशा मे जितना पथ-प्रदर्शन किया है, उतना अवधी मे कहा काम हो रहा है ?

सब से आवश्यक काम इस समय जो मातृभाषाओ के बारे मे करना है, वह अपनी-अपनी मातृभाषा का एक-एक मासिक-पत्र होना। कितनी ही भाषाओ मे इसके लिए प्रयत्न किया गया लेकिन व्यक्तियो या कम साधन सम्पन्न संस्थाओं ने अधिक समय तक घाटा उठाने मे अपने को असमर्थ पा, पत्रिकाओ को बन्द कर दिया। लेकिन यदि दो हजार कापियों के ग्राहक निकल आवें, तो ऐसे पत्रो को क्यों बन्द होना चाहिए ? प्रौढ-शिक्षा के फजूल प्रोपेगंडे पर हर साल लाखो रुपया बरबाद करने वाली सरकारें, क्यों नहीं इसमे हाथ बटातीं ? यदि अधिकारी साहित्यिको और संस्थाओ द्वारा सम्पादित-प्रकाशित मातृभाषा की पत्रिकाओ की हजार प्रतियाँ स्थानीय सरकारें खरीद करके अपने प्रौढ-शिक्षा-केन्द्रो और प्रारम्भिक पाठशालाओ को दे दें, तो

यह काम ठोस तौर से आगे बढ सकता है। आर्थिक-संकट से निश्चिन्त होने पर फिर पत्र के सुसम्पादन का ही भार रह जाता है, जिसे मातृभाषा-भक्त साहित्यकार आसानी से अपने कन्धे पर उठा सकते हैं। जो उत्साही तथा अधिकारी-तरुण, बडे प्रयत्न से लोक-कथाओ और लोक-गीतो का संग्रह कर रहे है, उनके प्रकाशन का भी यह पत्र अच्छे साधन हो सकते हैं। कितने ही हमारे पत्र केवल अपने जिले भर ही मे चलते हैं। मुझे समझ मे नहीं आता कि मथुरा या आगरा के ऐसे पत्र को ब्रजभाषा छोड़कर हिन्दी मे क्यो निकाला जाता है? आखिर उसके पाठक और ग्राहक सभी व्रजभाषी होते हैं, और वहाँ की म्युनिसिपेलिटियाँ और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड अपने विज्ञापन आसानी से ब्रजभाषा मे निकलने वाले पत्र को दे सकते हैं। हिन्दी-क्षेत्र के प्रायः हर एक जिले मे एक या अधिक ऐसे पत्र निकलते हैं, जिनका प्रचार केवल जिले के भीतर तक ही सीमित है, और जिन्हे म्युनिसिपेलिटियो और डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों के विज्ञापन पालते-पोसते हैं। यदि हमारे जन-निर्वाचित प्रतिनिधि उन पर जोर दे, तो वह अपने को मातृभाषा की पोशाक पहनाने के लिए तैयार हो जायँगे। तो भी उनका स्टेन्डर्ड इतना नीचा होता है, कि उनसे मातृभाषा के साहित्य की समस्या पूरी नही हो सकती। उसके लिए तो जिस तरह व्रजवासियों ने अपना व्रज-साहित्यमंडल कायम किया है, उसी तरह हरियानी-साहित्यमंडल, मारवाड़ी-साहित्यमंडल, मेवाड़ी-साहित्यमंडल, बुन्देली साहित्यमंडल, कौरवी साहित्यमंडल, गढ़वाली साहित्यमंडल, कुमाउँनी साहित्यमडल, भोजपुरी साहित्यमंडल, मगही साहित्यमडल, मैथिली साहित्यमंडल आदि अनेक साहित्यमंडलो को स्थापित करना होगा। यह साहित्यमंडल जहा लोक-गीतो और लोक-कथाओ के संग्रह कराने का प्रबन्ध करेंगे, वहाँ पत्र का संचालन भी इनके जिम्मे होगा। यदि हमारे आकाश-बेल शासकों को भविष्य और इतिहास के प्रति अपनी जिम्मेवारी का ख्याल आता, तो इन मंडलो के लिए कोई आर्थिक-समस्या ही नही रह जाती। प्राइमरी तक की शिक्षा मातृभाषा द्वारा हो, और उसके लिए टेक्स्ट-बुक तैयार करके प्रकाशित करने का काम इन मंडलो को दे देने पर वह अपने पैर पर खड़ा हो काम को बहुत आगे बढ़ा सकते हैं।

मातृभाषाओ की हमारे राष्ट्र-निर्माण मे जो अनिवार्य आवश्यकता है, उसके बारे मे कहते हुए शायद कोई पाठक हमसे यह भी सवाल करेंगे, कि फिर जैसे मातृ-भाषाओ का अपने क्षेत्र के अनुसार अपना साहित्यमण्डल कायम हो, उसी तरह भाषानुसार हिन्दी क्षेत्र मे भी क्यो नहीं प्रदेश बना दिए जायँ? यद्यपि मै इसका पक्षपाती हूँ, लेकिन इस वक्त आंध्र, महाराष्ट्र आदि भाषानुसार बनने वाले प्रदेशो की माँगो से हमारे दिल्ली के देवता इतने परेशान है कि वह यह बात सुनकर बौखला उठेंगे—भाषानुसार प्रदेशो की बीमारी यह उत्तर में भी फैलाई जाने लगी। लेकिन जब सारा हिन्दी-क्षेत्र अब भी बिहार, उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, विंध्यप्रदेश, मध्य-भारत, राजस्थान, पंजाब, पेप्सू, हिमाचल और भूपाल के दस ऐसे प्रदेशो मे विभक्त है, जिसमे मातृ-भाषाओ का कोई खयाल नहीं रखा गया है, तो उनकी जगह हमारे हिन्दी-क्षेत्र का भाषानुसार पुनर्विभाजन कर दिया जाय, तो इससे कौन-सी आफत आ जायगी?

संक्षेप मे यह कहा जा सकता है, कि आज की प्रमुख समस्याओ और इतिहास की यही माँग है, कि मातृ-भाषाएँ और अधिक दिनों तक उपेक्षित न रखी जा सकतीं, और देश के सर्वतोमुखीन विकास मे अनिवार्य आवश्यकता को समझकर उनको उचित स्थान देना ही पड़ेगा।



श्याम परमार

हिन्दी जनपदों में लोक-साहित्य संकलन की परम्परा

उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे पाश्चात्य देशो मे लोक-साहित्य-सम्बन्धी तीव्र आकर्षण उत्पन्न हुआ। जॉन ऑब्रे (John Aubrey) द्वारा लिखी गई टिप्पणियो से ज्ञात होता है कि इस ओर सत्रहवीं शताब्दी मे ही जिज्ञासा के भाव प्रगट हो गए थे।[1] नृतत्वशास्त्र, समाज-विज्ञान, जाति-विज्ञान एवं भाषा-विषयक नवीन ज्ञान की प्रगति ने लोकभाषाओ की मौलिक निधि के प्रति सभी देशो को समान रूप से आकर्षित किया। क्रमशः लोक मे प्रचलित मान्यताएँ, रूढ़ियाँ, अन्धविश्वास, परम्पराएँ, धार्मिक आचार-विचार और विभिन्न भाषागत अभिव्यंजनाएँ भी अध्ययन के विषय बनते गए जो समग्र-रूप से लोक-वार्ता-साहित्य के जनक कहे जा सकते हैं।

बिशप पॅरी (Percy) द्वारा धकेली गई इस विषय की चर्चा (१९वीं शताब्दी) ग्रिम द्वारा किञ्चित वैज्ञानिक रूप प्राप्त करते हुए, कॉक्स और मेक्समूलर के वैदिक-साहित्य के अध्ययन का स्पर्श पाकर, टेलर के कार्यों के रूप मे अवतरित हुई, और फ्रेजर के 'दी गोल्डन बो' (१८९० ई०) ग्रन्थ के रूप मे अच्छी तरह से निखरी। संक्षेप मे लोक-साहित्य का अध्ययन पश्चिम में विभिन्न जातियो के प्रति जिज्ञासा-वृत्ति से प्रेरित होता हुआ धीरे-धीरे एक अलग विज्ञान का स्वरूप धारण करता गया, जिसने न केवल पश्चिमी देशो को ही प्रभावित किया, बल्कि वहाँ से उठी हुई लहर ने सुदूर-पूर्वी देशो को भी शीघ्र ही प्लावित करना आरम्भ कर दिया।

भारतवर्ष मे इस कार्य की लहर लोकवार्ता के समग्र अंशो को छूते हुए यकायक नहीं आई। १९वीं शताब्दी के मध्य मे जब अँग्रेजो ने शासकीय बागडोर पूरी तरह अपने हाथ मे सभाली, तब लोक-मानस के अध्ययन की आवश्यकतावश अँग्रेजी विद्वानो ने अपनी दृष्टि दौड़ाई। शेर-चीतों, जंगली जातियो, विशिष्ट प्रथाओं और भिन्न-भिन्न संस्कृतियो का यह देश उन्हे कम आश्चर्यजनक नहीं लगा। फलस्वरूप भारतीय लोक-साहित्य के अध्ययन और संकलन की नींव पड़ी।

[१] यो तो कर्नल जेम्स टाड के 'एनल्स एण्ड एण्टिक्वीटीज ऑफ राजस्थान' (१८२९ ई०) से भारतवर्ष मे लोकवार्ता-संकलन का श्रीगणेश मानना चाहिए; किन्तु उसमे वार्ता-तत्त्व की अपेक्षा इतिहास की सामग्री का बाहुल्य है, अतः सी० ई० गोव्हर (Gover) की पुस्तक 'फोक साग्ज़ ऑफ सदर्न इण्डिया' (सन् १८९२) को प्राथमिकता दी जाना अनुचित न होगा, जो कि कदाचित् भारत मे लोकगीतो का प्रथम संग्रह है।

१. ऑब्रे ने सन् १६८७ ई० में 'रिमेन्स आफ जैण्टिलिस्मे एण्ड जुडाइज्म' पर अपने विचार लिखे, जो सन् १८८१ ई० में प्रकाशित हुए।

सुविधा के लिए इस दिशा में भारत-सम्बन्धी प्रकाशित ग्रन्थों को दो भागों मे बॉटना उचित होगा—

(अ) हिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थ और (आ) अहिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थ।

(अ) हिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थ संख्या में बहुत ही कम हैं। इसके अन्तर्गत मध्य-भारतीय जातियों के सम्बन्ध मे लिखे गए हिस्लप के लेख (१८६६), जिनमे कुछ मूल लोक-कथाएँ भी आई है, बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। हिस्लप के पश्चात् डा० वेरियर एल्विन के ग्रन्थ—'फोक टेल्स आफ महाकोशल', 'फोक सांग्ज ऑफ छत्तीसगढ़', 'फोक सांग्ज ऑफ माइकल हिल' (श्यामराव हिवाले सहित), 'सांग्ज आफ दी फारेस्ट' (हिवाले सिहत), 'मिथ्ज ऑफ मिडिल इण्डिया', 'मुरिया एण्ड देअर घोटुल', 'दी बैंगा', 'दी अंगरिया,' आदि; शरतचन्द्र राय लिखित 'मुण्डा एण्ड देअर कन्ट्री' (१६१२), क्रिश्चियन जोन द्वारा संग्रहीत 'बिहार प्रोवर्ब्स' तथा आर्चरलिखित 'ब्लू ग्रव' कुछ उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

(आ) अहिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थों में 'ओल्ड डेक्कन डेज' (१८६८),[1] 'डिस्क्रिप्टिव एथनालाजी आफ बैंगाल' (१८७१),[2] 'फोकसाग्ज ऑफ बैंगाल' (१८८३)[3] 'एन्श्यंट बैलेड्स एण्ड लीजेन्डस् ऑफ हिन्दुस्थान'[4] (१८८२), 'लीजेन्डस ऑफ दी पंजाब' (१८८४),[5] 'वाइड अवेक स्टोरीज' (१८८५),[6] 'फोक लोअर इन सदर्न इण्डिया'[7], 'इण्डियन फोकलोअर',[8] 'शिमला विलेज टेल्स'[9], 'रोमांटिक टेल्स फ्राम पंजाब',[10] 'बंगाली हाउस ओल्ड टेल्स',[11] 'ओरियण्टल पर्ल्स',[12] 'इण्डियन फेबिल्स',[13] 'फोकलोअर आफ दी तेलगूज',[14] 'इस्ट बैंगाल बैलेडस्',[15] 'फोकलोअर ऑफ बाम्बे',[16] 'फोकलोअर नोट्स, ट्राइब्ज एण्ड कास्टस् ऑफ बाम्बे',[17] आदि कुछ प्राप्य ग्रन्थ हैं। अनुमान है कि कुछ ग्रन्थ और होने चाहिएं जो इन दिनो भारतीय पुस्तकालयों मे उपलब्ध नहीं।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'जरनल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी,' 'इन्डियन एंटिक्वेरी,' 'नार्थ इन्डिया नोट्स एण्ड क्वेरीज', 'बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी जरनल,' आदि में छपित डैमेन्ट, क्रुक, जे० एच० नालीज, बोम्पस, बोर्डिंग, ब्लूमफिल्ड, शरतचन्दराय, पैंजर, ग्रियर्सन, जोगेन्थनाथ, हौपमैन, ब्राउन, आदि के फुटकर लेखो मे बहुत कुछ काम की सामग्री प्रकाशित हुई है। प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन भी इस दिशा मे सहयोगी सिद्ध हुआ है। 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इन्डिया' (१६०७-८) की जिल्दो मे ग्रियर्सन ने कुछ मूलगीतो को अनुवाद सहित प्रस्तुत किया है।[18]

उपर्युक्त ग्रन्थो की सूची से यह प्रगट होता है कि हिन्दी जनपदो की अपेक्षा अहिन्दी जनपदो मे, भारतीयो और अभारतीयो द्वारा अधिक कार्य हुआ है। हिन्दी जनपद तो हिस्लप, एल्विन और आर्चर के ही बॉटे आए। दूसरे लोक-कथाओ की ओर अन्य विषयो से अधिक

१. मिस फ्रेयर, २. डाल्टन, ३. लालबिहारी दे, ४. तोरुदत्त, ५. आर० सी० टेम्पल, ६. श्रीमती स्टील, ७. नटेशशास्त्री, ८. आर० सी० मुकर्जी, ९. श्रीमती डेकार्ट, १०. सी० स्वीन्टर्न, ११. एम० कुलक, १२. शोभनादेवी, १३. रामस्वामी राजू, १४. जी० आर० सुब्राह्मिय पंतालु, १५. दिनेशचन्द्र-चन्द्रकुमार (कलकत्ता विश्वविद्यालय), १६-१७ आर० ई० एन्थोवेन। १८. देखिए 'लोकवार्ता' (जनवरी, १९४६) में प्रकाशित 'भारतीय लोक कथाएँ और उनके अंग्रेजी संग्रह' शीर्षक लेख।

लक्ष्य दिया गया, जिससे लोक-साहित्य की अन्य दिशाएँ छूई भर जा सकीं हैं। आंग्लभाषियों द्वारा लोक-साहित्य-सम्बन्धी कार्य अप्रत्यक्ष रूप से भले ही वैज्ञानिक रहा हो, पर प्रत्यक्ष यही है कि उसमें लोक-जीवन के नैकट्य की जिज्ञासा थी। ईसाई मिशनरियों के फैलाव और धर्म-प्रचारार्थ प्रान्तीय भाषाओं के अध्ययन की आवश्यकता ने प्रान्तीय भाषाओं के मौखिक-साहित्य के संकलन को भी प्रेरणा दी, इसमें शक नहीं।

२०वीं शताब्दी के आरम्भ में जातीय-चेतना और भाषागत जागरूकता आरम्भ हो गई थी। उसने आंग्लभाषियों के प्रयत्नों से प्रेरणा लेकर लोक-साहित्य के प्रति रुचि-निर्माण में योग देना प्रारम्भ किया। इस प्रेरणा और रुचि के पृष्ठ में राष्ट्रीय-आन्दोलन और इने-गिने साहित्यिकों में निहित जनोन्मुखी स्नेह का बल भी था। कुछ अंशों में लोकमानस की सरल और भोली 'त्रिधा' अभिव्यक्तियों[1] का आकर्षण भी काम कर रहा था।

[२] हिन्दी में छपित लोक-साहित्य पर प्रकाश डालने के पूर्व, अन्य प्रान्तीय भाषाओं में किये गए कार्यों पर एक नजर डालना आवश्यक है, जिनमें गुजराती, बंगला, मराठी, पंजाबी विशेष रूप से अग्रणीय रही हैं।

गुजराती में झवेरचन्द मेघाणी द्वारा सम्पादित 'रढ़ियाली रात' (३ भाग), 'चुन्दड़ी' (२ भाग) तथा 'लोक-साहित्य', रणजीतराव मेहता लिखित 'लोकगीत' और नर्मदाशंकर लालशंकर द्वारा संग्रहीत 'नागर स्त्रियों गावता गीत' उल्लेखनीय है। बंगला में 'खूकूमणीर छड़ा' (योगीन्द्रनाथ सरकार), 'बंगलार व्रत', १६१६ (अवनीन्द्रनाथ ठाकुर), 'हारामणी' (महम्मद मनसूरुद्दीन) और 'बगलार बाउल' (जासीमुद्दीन), पंजाबी में 'पंजाब दे गीत' (पं० रामशरण-दास), 'गिद्धा,' १६३६ (देवेन्द्रसत्यार्थी); मराठी में वामन कृष्ण चोरघड़े तथा काका कालेलकर लिखित 'साहित्याचे मूलधन', का० न० केलकर द्वारा संग्रहीत 'ऐतिहासिक पोवाडे', 'स्त्री गीते' तथा अनुसूयाबाई भागवत के कुछ लेख उल्लेखनीय प्रकाशन है। तामील, तेलगू, मलयालम भी इस दिशा में पीछे नहीं है।

लोक-साहित्य-संकलन के सम्बन्ध में, जो परिस्थितियाँ अन्य प्रान्तीय भाषाओं के समक्ष थीं, वे ही हिन्दी के सामने रहीं। २०वीं शताब्दी के दूसरे दशक में 'सरस्वती' मासिक से प्रोत्साहन पाकर श्री मन्नन द्विवेदी के प्रयत्नों से 'सरवरिया' नामक गोरखपुर जिले के गीतों का एक छोटा-सा संग्रह, सन् १६१३ में प्रकाशित हुआ।

हिन्दी में लोक-साहित्य-संकलन के उद्योग का यहीं से प्रथमोत्थान आरम्भ होता है।[2] उन्हीं दिनों 'सरस्वती' में संतराम बी० ए० के 'पंजाबी लोकगीत' प्रकाशित हुए थे, (जिनका सवर्द्धित संस्करण १६२५ में 'पंजाबी-गीत' के नाम से प्रकाशित हुआ) जिनसे पं० रामनरेश

१. देखिए 'आलोचना,' अंक ४; 'हिन्दी साहित्य के विकास क्रम में लोकवार्ता की पृष्ठ भूमि' शीर्षक डा० सत्येन्द्र का लेख, पृष्ठ २१।

२. बताया जाता है कि दानीपुर निवासी लाला खंगबहादुर मानव ने सन् १८८४ में 'सुधा बूँद' नामक गीतों का कोई संग्रह तैयार किया था जो लेखक के देखने में नहीं आया। यदि उक्त संग्रह उपलब्ध हो जाय तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अंग्रेजी के कार्यों के समानान्तर हिन्दी में भी लोक-साहित्य-संकलन का कार्य प्रारम्भ हो गया था।

त्रिपाठी निश्चय ही प्रभावित हुए बिना न रहे। सन् १६२६ के पश्चात् वे बड़ी लगन से इस क्षेत्र में घुस पड़े। परिणाम-स्वरूप 'कविता-कौमुदी' (पाँचवा भाग), 'हमारा ग्राम साहित्य' तथा 'मारवाड़ी गीत-संग्रह' पुस्तकों का निर्माण हुआ। 'कविता-कौमुदी' की भूमिका मे ग्राम-गीत-संग्रह के कार्य मे आने वाले कष्टो का उल्लेख, त्रिपाठी जी ने रोचक ढंग से किया है। अपना कार्य आरम्भ करने के पूर्व 'सरस्वती' मे कुछ गीतो को लेकर उन्होंने दो लेख लिखे थे। 'चॉद' मासिक का भी उस समय कम सहयोग न रहा। त्रिपाठी जी की लगन और तत्परता का अनुमान अपने मित्र को लिखे गए उनके एक पद्य-पत्र से हो सकता है। आप लिखते हैं:—

मैं विरही हूं गीत का घर मजनूँ का भेस।
झोली डाले गीत की घूम रहा हूँ देस॥
अन्न वस्त्र लेता नहीं, नहीं विभव की चाह।
मुझे चाहिए गीत वह, जिसमें हो कुछ आह।[1]

त्रिपाठी जी की भाँति १६३० के पश्चात् श्री देवेन्द्र सत्यार्थी भी गीतो की खोज मे जुट गए। त्रिपाठी जी का क्षेत्र संकुचित और तनिक वैज्ञानिक रहा, पर सत्यार्थी जी का विस्तृत, छितराया हुआ और भावना प्रधान। उन्होंने भारतीय ग्रामों मे दूर-दूर तक यात्रा की, गीतों को सकलन किया। उन्ही गीतों पर 'माडर्न रिव्यू', 'रूरल इण्डिया' और हिन्दी-उर्दू के पत्रो मे क्रम से लिखते रहे। सत्यार्थी जी के कठोर परिश्रम और प्रकाशन का कुछ ऐसा प्रभाव रहा कि ३० दिसम्बर, १६४७ मे लेखक से वार्तालाप करते हुए गाँधी जी ने कहा था—"पचास से अधिक भाषाओ के कोई तीन लाख गीत-संग्रह कर डालना कोई छोटा काम नहीं है। तुम्हारे बीस वर्ष इसी काम मे खर्च हो गए।"[2] गाँधी जी के इस कथन से यही सकेत मिलता है कि श्री सत्यार्थी सन् १६२७ से ही गीतो को जुटाने मे व्यस्त हो गए थे।

लोक साहित्य-संकलन के प्रथमोत्थान की अवधि सन् १६४२ तक समझनी चाहिए। इस बीच पत्र-पत्रिकाओं मे रसीले-चटकीले लोकगीतो की, शृंगारी और विरही भावनाओं के प्रति, 'आह' और 'वाह' की प्रवृत्तियो से बोझिल लेखों का प्रकाशन होता रहा। राजस्थान और मारवाड अवश्य ही इस आन्दोलन के प्रति जागरूक हो गए थे। सूर्यकरण पारीक के प्रयत्नो से, राजस्थानी-गीतो का संकलन एक सुलझी हुई पद्धति से आरम्भ हो गया था। तो भी प्रमुख रूप से प्रथमोत्थान रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता कौमुदी' और देवेन्द्र सत्यार्थी के रोमानी लेखो से प्रभावित होकर, केवल लोक-गीतो के संकलन तक ही सीमित रहा।

सन् १६४२ के पश्चात्, हिन्दी मे अपने इस 'मूलधन' के प्रति एक नई जागरूकता उत्पन्न हुई, जिसके पीछे पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की 'विकेन्द्रीकरण योजना', तथा डा० वासुदेव-शरण अग्रवाल की 'जनपद कल्याणी योजना' प्रेरणादायी सिद्ध हो रही थी। राहुल साकृत्यायन लिखित 'मातृभाषाओं का प्रश्न' लेख[3] तथा शिवदानसिह चौहान की प्रान्तीय भाषाओं पर निबन्ध-रूप मे लिखी गई रिपोर्ट[4], अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के नाते कम प्रभावशाली न रहे।

१. 'कविता कौमुदी' (५वां भाग) की भूमिका, पृष्ठ २३।
२. देवेन्द्र सत्यार्थी, 'धरती गाती है', आमुख—पृष्ठ ३।
३. 'हंस', सितम्बर, १६४३।
४. देखिए शिवदानसिंह चौहान की पुस्तक, 'प्रगतिवाद'।

इस वैचारिक उहापोह का परिणाम यह हुआ, कि कुछ विद्वान् लोकवार्ता-साहित्य के संकलन के विषय मे सोचने लगे, कि किस प्रकार काम किया जाए। कुछ ने यह भी प्रश्न उपस्थित किए कि लोक-साहित्य अथवा लोकवार्ता-साहित्य के सकलन से क्या होगा ? तथा साहित्य को उससे किस प्रकार के लाभ की सम्भावना है ? विन्हीं अशो मे प्रथम प्रश्न की समस्या आज भी वनी हुई है, जिसका स्पष्टीकरण हिन्दी-लेखको की ओर से नही हुआ है। काम करने का प्रश्न तो साधनो के अभाव मे आगे भी बना रह सकता है। राहुल साकृत्यायन ने १९३७ मे लोक-साहित्य-संकलन के लिए क्षेत्र चुने जाने के विषय मे साधारण तौर पर योजना प्रस्तुत करते हुए लिखा है —

(१) भाषा ऐसी हो, जिसका क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा हो।

(२) जिस भाषा के (कई शताब्दियों के अन्तर से) अनेक रूप उपलब्ध हों, जिससे कि तुलनात्मक अध्ययन में पूरी मदद मिल सके।

(३) जहाँ भाषा-तत्त्वज्ञ तथा उस भाषा के मर्मज्ञ भी मिल सकें।

(४) जहाँ की स्थानीय संस्थाएँ इसके लिए तैयार हों।

(५) जहाँ उत्साही लेखक और कार्यकर्ता सुलभ हों।

(६) जहाँ काम जल्दी समाप्त किया जा सकता हो।[१]

दूसरे उत्थान में लोक-संस्कृति के अध्ययन, और लोकसाहित्य के संकलन के उद्देश्य को लेकर कुछ जनपदीय सस्थाओ का तेजी से निर्माण हुआ। ब्रज मे 'ब्रजसाहित्यमडल', गढ़वाल मे 'गढवाली साहित्य-परिषद्', बघेलखड मे 'रघुराज साहित्य-परिषद्', बुन्देलखंड मे 'लोकवार्ता साहित्य परिषद्', भोजपुर मे 'भोजपुरी लोक साहित्य परिषद्', राजस्थान मे 'भारतीय लोककला-मंडल' तथा मालवा मे 'मालव लोक-साहित्य परिषद्' आदि कुछ इसी प्रकार की संस्थाएँ है। द्वितीय उत्थान का काल अभी समाप्त नहीं कहा जा सकता। अतः प्रथमोत्थान की अपेक्षा, अनेक बहुमुखी प्रयत्नों की दृष्टि से द्वितीय उत्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है। सुविधा के लिए उक्त काल के प्रयत्नो पर निम्न लिखित शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकाश डाला जा सकता है —

(क) लोकगीतो का संकलन; (अ) शास्त्रीय अनुशीलन युक्त लोकगीतो के संग्रह, (आ) भावनात्मक ढंग से लोकगीतो पर लिखे लेखों के संग्रह

(ख) लोक-कथाओं का संकलन

(ग) लोकोक्तियाँ एवं कहावतों के संग्रह

(घ) आलोचना प्रधान लोक-वार्ता सम्बन्धी प्रबन्ध अथवा ग्रन्थ

(ङ) लोकवार्ता-सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाएँ

(च) फुटकर प्रयत्न

(क) (अ) हिन्दी प्रदेश की वर्तमान बोलियो मे, द्वितीयोत्थान के अर्द्धशतक में, प्रमुख रूप से मारवाड़ी, राजस्थानी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी, निमाड़ी, मैथिली, बुन्देलखंडी, मालवी, आदि बोलियो के अच्छे गीत-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इनसे भिन्न बोलियो के भी कुछ गीत-संग्रह हो चुके हैं, किन्तु प्रकाशको के अभाव मे उनका प्रकाशन नहीं हो पा रहा है। प्रकाशित संग्रहों की तालिका इस प्रकार होगी —

---

१. पुरातत्त्व निबन्धावली—'हिन्दी की स्थानीय भाषा।'

मारवाड़ी : १ 'मारवाड़ी गीत-संग्रह' (खेताराम माली), २ 'मारवाडी गीतमाला' (मदनलाल वैश्य), ३ 'मारवाडी गीत' (निहालचन्द वर्मा), ४ 'मारवाड़ी स्त्री-गीत-संग्रह' (तारांचन्द ओझा), ५ 'मारवाड़ के ग्राम-गीत' (जगदीशसिंह गेहलोत)।

राजस्थानी : १ 'राजस्थान रा दूहा' (स०-नरोत्तम स्वामी), २ 'राजस्थान के लोक-गीत' (सूर्यकरण पारिक, ठाकुर रामसिंह), ३ 'राजस्थान के ग्रामगीत' (नरोत्तम स्वामी)।

भोजपुरी : १ 'भोजपुरी ग्राम-गीत' (कृष्णदेव उपाध्याय), २ 'भोजपुरी लोकगीतो में करुण-रस' (दुर्गाशंकर प्रसादसिंह), 'भोजपुरी ग्राम-गीत' (आर्चर)।

छत्तीसगढी : १ 'छत्तीसगढ़ी लोक-गीत' (श्यामचरण दुबे)।

निमाडी : १ 'निमाड़ी ग्राम-गीत' (रामनारायण उपाध्याय)।

मैथिली : १ 'मैथिली लोकगीत' (रामइकबालसिंह 'राकेश')।

बुन्देलखंड़ी : १ इसुरी की फागें (स०कृष्णानन्द गुप्त)।

मालवी : १ 'मालवी लोक-गीत' (श्याम परमार)।

उक्त संग्रहो में प्रामाणिक गीतों के अतिरिक्त, भूमिकाओं मे सम्पादकों द्वारा लिखे गए लोकगीत-सम्बन्धी विवेचन पठनीय साहित्य है। 'भोजपुरी ग्राम-गीत' की भूमिका श्री बलदेव उपाध्याय ने लगभग ४५ पृष्ठों मे लिखी है, जिसमे गीतो के परिचय, भारतीय और पाश्चात्य परम्पराएँ, गाने के ढंग, प्रकार, भौगोलिक आधार आदि पर प्रकाश डालते हुए, अन्त मे भोजपुरी व्याकरण तक की रूप-रेखा दी है। इस प्रकार 'राकेश' भी अपने संग्रह की भूमिका मे लोकगीत की तह तक पहुँचे हैं।[1] 'राजस्थानी लोकगीत' यद्यपि छोटा संग्रह है, पर सूर्यकरण पारिक ने ३२ पृष्ठो मे राजस्थानी गीतो का विवेचन-विश्लेषण अत्यन्त ही वैज्ञानिक-पद्धति से किया है। गीतो की तुलनात्मक टिप्पणियाँ और उपमानो की तालिका, उनके गीतो मे गहरी पैठ के द्योतक है। 'इसुरी की फागें' बुन्देलखंड के एक लोक-कवि की प्रचलित फागो का संग्रह है। कृष्णानन्द गुप्त द्वारा लोककवि के जीवन और रचनाओ पर प्रकाश डालने वाली यह हिन्दी लोकगीत-साहित्य मे प्रथम पुस्तक है। उक्त संग्रहो के प्रति समग्ररूप से यही कहना उचित होगा, कि उनमे यद्यपि लोकवार्ता का वैज्ञानिक स्वरूप पूरी तरह निखरा नहीं, तथापि उनके द्वारा भावी अध्ययन की नीव अवश्य तैयार हो गई है।

(आ) भावात्मक ढंग से लिखे गए लोकगीत सम्बन्धी लेख-संग्रहो के अन्तर्गत केवल देवेन्द्र सत्यार्थी लिखित १ 'धरती गाती है' (१९४९), २ 'धीरे बहो गंगा' (१९५०), ३ 'बेला फूले आधी रात' (१९५१) और ४ 'बाजत आवे ढोल' (१९५२) पुस्तकें आती हैं। इस दिशा मे सत्यार्थी अकेले हैं। यों तो, उन्हे हमने प्रथमोत्थान का व्यक्तित्व माना है, पर पूर्व संचित उनकी लोक-साहित्य-सम्बन्धी सामग्री का प्रकाशन द्वितीयोत्थान काल मे हुआ है। अतः मस्तिष्क में किसी गीत की ध्वनि की भाँति उनका प्रभाव बना हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी भाषा और शैली से सत्यार्थी जी ने हिन्दी के एक बड़े वर्ग को लोकगीतो के प्रति आकर्षित किया है। गीतों के प्रति भावना-प्रधान पहुँच होते हुए, तुलनात्मक दृष्टिकोण का संकेत तथा लोकवार्ता

---

१. 'राकेश' जी ने संग्रह में कुछ भोजपुरी गीतो को मैथिली रूप देने की चेष्टा की है, जिससे गीतों के मूलरूप नष्ट हो गए है। अतएव वैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रयास उचित नहीं कहा जा सकता।

सम्बन्धी प्रकाशित सामग्री का यथोचित ज्ञान, और फिर उसका काव्योभासित समन्वय का उत्कृष्ट स्वरूप हमे उनके लेखो मे मिलता है। निश्चय ही उनके संग्रहो में मूलगीतों की सख्या कम है। यद्यपि गीतो के लिए उन्होने अनेक प्रान्तो मे भ्रमण किया है, पर उन्हे ऐसा प्रतीत होता है कि कवि होने के नाते उन्होने अपने लिए केवल गीतो की मधुर पंक्तियाँ ही चुनी हैं। अपनी शैली को उन्होने स्वतन्त्र 'निजी चर्चा की शैली'[1] कहा है। इसलिए वह साधारण पाठको को तत्काल छू लेती है। सत्यार्थी जी का एक महत्त्वपूर्ण कार्य गीतो के अनुवाद-सम्बन्धी शैली के विषय मे है। उन्होने स्वीकार किया है—"अनुवाद भी एक कला है। सचमुच यह बडी जिम्मेदारी का काम है। न एक शब्द ज्यादा न एक शब्द कम; पंक्तिवार अनुवाद; यही है अन्तर्राष्ट्रीय लोक-गीत विशेषज्ञो की शैली।"

"जहाँ भी मैं गया, मैंने किसी-न-किसी दोभाषिए की सहायता से गीतो का अनुवाद साथ-साथ तैयार करने का क्रम जारी रखा, प्रत्येक शब्द का अनुवाद; प्रत्येक कड़ी का अनुवाद··· अनुवाद करते-करते मैं इसी प्रयत्न मे क्रमशः अधिक-से-अधिक सफल होता चला गया।"

सत्यार्थी जी अपने कुछ लेखो मे लोकगीत संग्रह के अनुभव भी व्यक्त करते गए हैं, जिससे गीतों के उल्लेख के अतिरिक्त उनमे कहानी-तत्त्व का आभास भी मिलता जाता है।

(ख) लोक-कथाओ के संकलन का प्रयास हिन्दी में गीत-संकलन की अपेक्षा बहुत ही कम हुआ है। डॉ० वेरियर एलविन ने अपने ग्रन्थ 'फोकटेल्स ऑफ महाकोशल' की भूमिका में, प्रसिद्ध नृशास्त्रवेत्ता नार्मन ब्राउन का अनुमान व्यक्त किया है कि भारत तथा उसके पड़ोसी देशों में लगभग ३००० लोक-कथाएँ लिपिबद्ध होकर प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमे पंजाब, सथाल परगना और मध्यभारत से लगभग ६०० कथाएँ प्राप्त की गई हैं। डॉ० एलविन ने अपने संग्रह 'फोकटेल्स ऑफ महाकोशल' मे १५० तथा अन्य रचनाओ मे ५५ कथाएँ संकलित की हैं। ब्लूम फील्ड का तो कहना है कि भारतीय लोक-कथाओ में संस्कृत-साहित्य की ही गाथाएँ ध्वनित होती हैं। उन्होने आगे बढ़कर कहा है, "जिसे हम भारतीय कथा-साहित्य कहते हैं, वह वास्तव मे एशियाई कथा-साहित्य—तिब्बती, मंगोली, सुदूर भारतीय, चीनी साहित्य ही है।" अंग्रेजी विद्वानो द्वारा लोक-कथाओं पर जो कार्य हुआ है, वह कुछ अधिक होकर भी प्रामाणिक कम है। इसके कारण अनेक हैं। मुख्य कारण तो उनके दृष्टिकोण का ही है जो मनोरंजन और रोमांच तक सीमित रहा।

वास्तव में यह दिशा उन्हीं लोगों के लिए अधिक सुलभ है जो अपनी सीमाओं की बोलियों और वहाँ के व्यक्तियो की आत्मा से परिचित हों। इस दृष्टि से हिन्दी में सबसे ईमानदार प्रयास पं० शिवसहाय चतुर्वेदी का है। उन्होने बुन्देलखण्ड की लोककथाओं का संग्रह तैयार किया, जिसमें स्थान और वातावरण के साथ लोक-कथाओं की 'स्पिरिट' नष्ट न होने दी। इसी प्रकार राजस्थानी और मालवी लोक-कथाओं के संग्रह उल्लेखनीय हैं।

सामान्यतः हिन्दी की बोलियों में अभी हिन्दी माध्यम से काम होना शेष है। वैज्ञानिक अनुशीलन की अपेक्षा सहित वैदिक संस्कृत, अपभ्रंश, पाली, आसामी, तिब्बती, चीनी आदि मे फैले हुए लोक-कथाओ के सूत्रों को खोजना उतना ही महत्त्वपूर्ण है जो बिना मूल कथाओं के

१. 'धरती गाती है' आमुख—पृष्ठ ६।

(व्यर्थ कतरव्योंत रहित) लिपिबद्ध किए जाने मे पूर्ण नहीं हो सकती ।

कथाओ की श्रेणी में गीत-कथाएँ भी आती है, जिनका संकलन साधारणतया नहीं के बराबर है । अतः सम्बन्धित व्यक्तियों की लगन से इस दिशा मे काम जब तक न होगा तब तक आंग्लभाषी-संग्रहो से उत्पन्न भ्रान्तियाँ नष्ट नहीं होने की ।

(ग) लोकोक्तियो के वैज्ञानिक अध्ययन की नींव हिन्दी मे किसने डाली, यह विवादास्पद प्रश्न है । फिर भी, कन्हैयालाल सहल के लेखो मे सधा हुआ वैज्ञानिक दृष्टिकोण मिलता है । लोकोक्तियो के अन्तर्गत मुहावरे, अनुभव-प्रसूत साकेतिक शब्द-योजना और पहेलियाँ आती हैं । हिन्दी-भाषियो के लिए जो मुहावरा-कोष उपलब्ध है, उसमे प्रान्तीय बोलियो की अनेक लोकोक्तियो का समादेश हुआ हैं । फेलन की 'डिक्शनेरी ऑफ हिन्दुस्तानी प्राव्र्स' मे भी कुछ बिहारी और भोजपुरी लोकोक्तियो के अतिरिक्त अन्य बोलियो की लोकोक्तियो को भी स्थान दिया गया हैं । वैसे तो हिन्दी के अधिकांश मुहावरे लोकोक्तियाँ प्रान्तीय भाषाओ और बोलियो की संपत्ति हैं, पर उन्हे मूलरूप मे संकलित करना अनेक कारणो से आवश्यक है । संस्कृत, पाली, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओ मे आधुनिक लोकोक्तियो के अनेक प्रारम्भिक स्वरूप विद्यमान हैं । यह आवश्यक है कि जहाँ लोकोक्तियो के मूल की खोज की जाय, वहाँ प्रारम्भ से अब तक के उनके भिन्न-भिन्न रूपों का पता लगाकर, और उनका मनोवैज्ञानिक मूल्याकन किया जाय ।

हिन्दी मे जनपदीय लोकोक्तियो की प्रकाशित पुस्तके केवल चार ही है—१. 'मेवाड की कहावतें', १ भाग (लक्ष्मीलाल जोशी), २. 'मालवी कहावते' (रतनलाल मेहता), ३. 'राजस्थानी भीलो की कहावतें', १ भाग (मेनरिया) और ४. 'राजस्थानी कहावतें' (कन्हैयालाल सहल)

अंग्रेजो ने भी इस ओर ध्यान दिया था । श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'बेला फूले आधी रात' मे पंजाबी मुहावरो पर एक अच्छा निबन्ध दिया है । पहेलियो के संकलन का प्रयास सन्तोषजनक नहीं है । रामनरेश त्रिपाठी ने 'कविता कौमुदी' (५वाँ भाग) मे उत्तर प्रदेश की कुछ पहेलियाँ दी हैं । वर्षा, आँधी, पानी, खेती आदि के सम्बन्ध मे घाघ और भड्डरी, तथा अन्य जन-कवियो द्वारा प्रचलित की गई लोकोक्तियो का एक नया संग्रह त्रिपाठी जी ने हाल ही मे तैयार किया है । पं० गणेशदत्त 'इन्द्र' ने पौष, आषाढ़, श्रावण, भादो, तथा ग्रहो आदि-सम्बन्धी एक लेख-माला सन् १९४१ मे 'जयाजी प्रताप', ग्वालियर मे लिखी थी, जिसमे लोकोक्तियो का एक खासा समावेश हो गया है । 'मालवी लोकोक्तियाँ' एक नया सग्रह पं० सूर्यनारायण व्यास के सम्पादकत्व मे छप रहा है ।

लोकोक्तियाँ और मुहावरे जब संक्रान्तिकाल से गुजरते है, तब उनके रूपो मे परिवर्तन हो जाना असम्भव नहीं । परिस्थिति की मार से कई कहावते, जो किसी वर्ग तक सीमित होती है, नष्ट हो जाती है । नई बातो के आ जाने से मनुष्य के स्वभाव के साथ कहावतो और लोकोक्तियो के उपकरण बदलने लगते है, तभी उनका महत्त्व इतिहास और काल की दृष्टि से बढ़ जाता है ।

पहेलियाँ, जिन्हे संस्कृत मे 'ब्रह्मोदय' कहा जाता है, अत्यन्त ही अल्प मात्रा मे संकलित की गईं, यह स्पष्ट है । डॉ० वेरियर एलविन और आर्चर ने सन् १९४३ मे 'मेन इन इण्डिया' मे एक लेख लिखा था[1] जिसका महत्त्व उनके सुलझे हुए वैज्ञानिक दृष्टिकोण के नाते,

---

१. 'एन इण्डियन रिडिल बुक' अंक ११, संख्या ४, "नोट आन दी यूज आफ रिडिल्स इन इण्डिया" ।

हिन्दी मे किये गए प्रयत्नो की अपेक्षा आगे बढा हुआ है। डॉ० सत्येन्द्र ने पहेलियो के विकास पर अपने विचार व्यक्त किए है—"भारतवर्ष मे तो वैदिक काल से 'ब्रह्मोदय' का चलन मिलता है। 'अश्वमेध यज्ञ' मे तो 'ब्रह्मोदय' अनुष्ठान का ही एक भाग था। अश्व की वास्तविक बली से पूर्व, होतृ और ब्राह्मण ब्रह्मोदय पूछते थे। इन्हे पूछने का केवल इन दो को ही अधिकार था। इस प्रकार पहेलियो का प्रयोग भारतवर्ष मे ही नही, अन्य देशो मे भी मिलता है।[1]

(घ) लोक-साहित्य-सम्बन्धी वैज्ञानिक दृष्टिकोण व्यक्त करने वाले (दिशा-दर्शक), हिन्दी मे केवल पं० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित 'पृथिवी पुत्र' और डा० सत्येन्द्र लिखित 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन' दो ही ग्रन्थ हैं। यो राहुल साकृत्यायन के कतिपय फुटकर लेखो मे मार्ग-दर्शन की अधिकाश सामग्री मिलती है। यह दिशा ऐसी है जिसके प्रति सबसे कम ध्यान दिया गया। इसका मुख्य कारण मूल साहित्य के संकलन का अभाव है। जो काम पश्चिम मे ग्रिम ने किया, वही हमारे यहाँ डा० वासुदेवशरण और डा० सत्येन्द्र ने किया है, यह मानना अत्युक्तिपूर्ण न होगा।

(ङ) जनपदीय-साहित्य के उत्थान के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहने वाली पत्रिका 'मधुकर' श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पादकत्व मे वर्षो से सचेष्ट रही। उसमे प्रायः बुन्देलखण्ड के लोक-साहित्य-सम्बन्धी सामग्री छपती रही। 'मधुकर' के माध्यम से टीकमगढ़ के आसपास के प्रान्तो का बहुत-सा लोक-साहित्य संकलित किया जा सका। श्री चतुर्वेदी अपनी सम्पादकीय टिप्पणियो और अन्य लेखो मे 'अन्तर्जनपदीय परिषद्' की स्थापना का बराबर जोर देते रहे, जिससे इस दिशा मे वैचारिक सूत्र मिल गया। ब्रजमंडल से 'ब्रज भारती' का प्रकाशन हुआ। प्रारम्भ मे अवश्य ही वह लोकवार्ता-साहित्य के प्रति उदासीन रही पर शीघ्र ही वैचारिक आन्दोलन के प्रभाव-स्वरूप ब्रज के लोक-साहित्य को स्थान देने लगी। सन् १९४५ मे श्री कृष्णानन्द गुप्त के सम्पादकत्व मे, लोकवार्ता परिषद्, टीकमगढ़ द्वारा 'लोकवार्ता' एक अत्यन्त ही श्रेष्ठ त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होने लगी। छः अंको के बाद पत्रिका का प्रकाशन बन्द हो गया। किन्तु इस बीच अपने वैज्ञानिक, ठोस और सुव्यवस्थित-प्रणाली के कारण, पत्रिका अपने ढंग की महत्त्वपूर्ण वस्तु बन गई। इस पत्रिका द्वारा लोकवार्ता-सम्बन्धी कार्य करने वाली कुछ पत्रिकाएँ आगे आईं। राजस्थान से 'शोध पत्रिका' (उदयपुर), और 'राजस्थान भारती' (जयपुर) दो पत्रिकाएँ इतिहास, साहित्य और लोकवार्ता-प्रकाशन के उद्देश्य को लेकर आजकल बराबर प्रकाशित हो रही हैं। दोनो पत्रिकाएँ अपने उद्देश्यों के प्रति ईमानदार और सचेष्ट हैं।

(च) फुटकर प्रयत्नो के अन्तर्गत मासिक, साप्ताहिक और त्रैमासिको मे छपने वाले लेख है, जिनमे अधिरतर अभी भी 'आह' और 'वाह' की ध्वनि मिल जाती है। यद्यपि इन छुट-पल्ले प्रयत्नो मे सार कम है, तथापि प्रचारात्मक दृष्टि से इस बहाने लोक-साहित्य-संकलन का आन्दोलन आगे ही बढता है। अधिकाश लेख, छपित सामग्री पर ही लिखे जा रहे हैं। मासिको और त्रैमासिको मे प्रकाशित होने वाला साहित्य अवश्य उत्तम कोटि का होता है। ऐसी पत्रिकाओ मे 'नया समाज,' 'हँस,' 'सरस्वती,' 'विक्रम,' 'कल्पना,' राष्ट्रभारती, 'नागरी-प्रचारणी पत्रिका,' 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी पत्रिका,' 'आलोचना' आदि

१. 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन'; पृष्ठ ४२०–२१।

उल्लेखनीय हैं।

आन्दोलन की गति के साथ, ज्यों-ज्यों इस युग के साहित्यिकों का ध्यान इस ओर खिंचा, त्यों-त्यों लेखकों और आलोचकों में लोक-साहित्य की महत्ता बखान करने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी —कुछ 'फैशन' की दृष्टि से और कुछ 'सचाई' के नाते। प्रान्तीय लोक-साहित्य परिषदें भी इस स्थिति को लाने में सहायक हुईं, जिनके पीछे गणेश चौबे, ठाकुरप्रसादसिंह, अम्बिकाप्रसाद दिवाकर, देवीलाल सामर, लाखनप्रतापसिंह, वंशीधर शुक्ल, अनूप, बसन्तीलाल बम्ब, आनन्दराव दुबे, महेश व्यास, शिवसहाय चतुर्वेदी आदि कार्यकर्ताओं की शक्ति काम आ रही है।

[३] आज से २० वर्ष पूर्व अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने, बम्बई में एक प्रस्ताव द्वारा प्रान्तीय भाषाएँ और उसके साहित्य की सुरक्षा के लिए संकेत किया था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने समय-समय पर प्रस्तावों द्वारा इस ओर आगे बढ़ने की प्रवृत्ति प्रगट की, और नाम के लिए दो-तीन संग्रहों का प्रकाशन करके काम रोक दिया। यह परम्परा अपनी गति में तेजी नहीं पकड़ सकी। साधनों के अभाव में, प्रामाणिकता की कमी भी बहुत-कुछ बनी रही। कुछ संग्रहों को छोड़ शेष ग्रन्थ या तो किसी छोटी-मोटी संस्था द्वारा प्रकाशित हुए अथवा फिर व्यक्तिगत प्रयत्नों का परिणाम बने। अतएव निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि हमारा संकलित लोक-साहित्य कहाँ तक प्रमाणिक है। अब तक के समस्त प्रयत्न भारत-जैसे विशाल देश के लिए अत्यन्त ही मामूली हैं। निस्सन्देह व्यक्तिगत और सामूहिक श्रम का कार्य होते हुए भी इस परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए आर्थिक संकटों का निवारण प्रथम वस्तु है।



डॉ० देवराज

अतीत का साहित्य : क्लासिक की परिभाषा

अतीत साहित्य को हम क्यों पढ़ते हैं ? 'लखनऊ-लेखक-संघ' मे एक दिन यह चर्चा छिड़ी, पर विभिन्न हठपूर्ण सम्मतियो के कोलाहल मे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सका। कुछ लोगो ने कहा—अतीत की संस्कृति को समझने के लिए हम तब का साहित्य पढ़ते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि हम अतीत की सस्कृति को ही क्यों समझना चाहते हैं ? दूसरे लोगो के अनुसार हम अतीत के इतिहास और साहित्य को इसलिए पढ़ते हैं कि आज के जीवन के लिए शिक्षा ले सके। यहाँ भी एक प्रश्न उठ खडा होता है—यह शिक्षा लेने की प्रक्रिया क्या है, और शिक्षा लेने के लिए आज के शिक्षक पर्याप्त क्यो नहीं हैं ?

इसी सम्बन्ध मे अतीत साहित्यकारों के जीवन-दर्शन की चर्चा भी की जाती है। कतिपय समीक्षकों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि विश्व के 'क्लासिकल' कवि अथवा लेखक किसी-न-किसी रूप में प्रगतिशील जीवन-दर्शन के शिक्षक अथवा प्रचारक थे। कहना नहीं होगा कि इस प्रगतिशीलता की व्यापक और संकीर्ण अनेक व्याख्याएँ संभव है। उदाहरण के लिए डॉ० भगीरथ मिश्र ने रीतिकाल-सम्बन्धी अपने एक निबन्ध मे कविवर बिहारीलाल तथा देव के वेदान्त-परक एवं वैराग्यवादी पद्यो को उद्धृत करके उन्हें महत्त्वपूर्ण बतलाया है। इसके विपरीत श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने अपनी कुछ समीक्षाओं में सूर, तुलसी आदि की जन-हित की भावना पर गौरव दिया है।

किसी भी समस्या का समाधान एक बाहरी विश्लेषण की सतह पर किया जा सकता है, और वह समाधान बहुत गहराई में घुसकर ऐसे धरातल पर खोजा और प्राप्त किया जा सकता है जहाँ जीवन की बहुत-सी दूसरी समस्याएँ एक मिलनबिन्दु पर आकर केन्द्रित होती हैं। ऊपर के प्रायः सभी दृष्टिकोणों मे सचाई का अंश है, उनकी कमी यही है कि वे मानव-जीवन और मानव-संस्कृति की वैविध्यपूर्ण, व्यापक पीठिका से सुसम्बद्ध नहीं हैं।

चिन्तन के क्षेत्र मे प्रायः अनेक कठिनाइयाँ इसलिए उपस्थित होती हैं कि हम चिन्तन-प्रक्रिया मे पूर्णतया ईमानदार होने की कोशिश नहीं करते। युग अथवा प्रचलित दृष्टियो के भय से हम बाह्य अथवा आन्तरिक यथार्थ को पूरा-पूरा नहीं देखते, और यदि देखते भी हैं तो उसे स्वीकार नही करते। फलतः हमारा तत्सम्बन्धी चिन्तन एकागी हो जाता है—जिस एकांगिता को हम बचा सकते थे, उसे भी नहीं बचा पाते। अतएव चिन्तन की प्रगति एक प्रकार से नैतिक प्रगति भी होती है, क्योंकि वह क्रमशः हमे यथार्थ को देखने का अधिक साहस देती है।

यदि हम अपने सहज अनुभव पर विश्वास करें तो, कम-से-कम अतीत साहित्य के बारे मे यह कह सकते हैं कि हम मुख्यतः उसे रस के लिए पढ़ते हैं। भले ही एक अन्वेषक पंडित 'मेघदूत' अथवा 'बिहारी सतसई' को उन युगो की संस्कृति समझने के लिए पढ़े, अथवा इस

कर्तव्य-भावना से कि उनके अध्ययन से देश की संस्कृति की रक्षा होती है, किन्तु साहित्य के अधिकांश फक्कड़ प्रेमी इन दुश्चिन्ताओं से मुक्त होते हैं। संस्कृत के अनेक ग्रन्थों को प्रस्तुत लेखक ने कभी दोबारा देखने की कोशिश भी नहीं की, जबकि कुछ नाटकों और महाकाव्यों को वह लगातार पढ़ता आया है। कारण यह नहीं कि दूसरी कोटि के ग्रन्थ भारतीय-संस्कृति का ज्यादा प्रामाणिक परिचय देते हैं—वह परिचय तो एक आनुषंगिक और गौण बात है; साफ और सच्ची बात यह है कि उसे उनमें रस मिलता है।

साहित्य की उपयोगिता को किसी 'जीवन-दर्शन' अथवा 'जन-हित' की परिधि में सीमित करके नहीं देखा जा सकता। हमारा अनुमान है 'मेघदूत' जैसी कृतियों की उपयोगिता उक्त दोनों कोटियों से भिन्न प्रकार की है। 'जीवन-दर्शन' की कसौटी न केवल कुछ कृतियों के लिए अपूर्ण है—वह विशिष्ट कलाकार के सम्पूर्ण कृतित्व को आँकने का भी अनिवार्य पैमाना नहीं है। दूसरे, 'जीवन-दर्शन' कलाकार बहुत-कुछ अपने समाज और वातावरण से लेता है, वह खास तौर से उसकी अपनी लब्धि नहीं होता।

विश्व-साहित्य में ऐसे अनेक बड़े कलाकार हुए हैं जिन्होंने कोई स्पष्ट सन्देश या 'जीवन-दर्शन' अपने समाज को नहीं दिया है। मार्क्सवादियों का विचार है कि संसार के सारे दर्शनों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है, एक अध्यात्मवादी और दूसरे भौतिकवादी। स्थूल-रूप में यह वर्गीकरण स्वीकार किया जा सकता है। प्रश्न है—क्या हम कालिदास, शेक्सपियर जैसे लेखकों को विशुद्ध रूप में अध्यात्मवादी अथवा भौतिकवादी कह सकते हैं? कालिदास को ही लीजिये। इस कवि ने विशुद्ध ऐहिक सुख-भोग का समर्थन करने वाली पंक्तियाँ भी लिखी हैं और ऐसे पद्य भी जिनमें वैराग्य, लौकिक-सुख-निरपेक्षता आदि का महत्त्व-ख्यापन है। वसन्त ऋतु में कवि की कोकिला किसी युवती से कहती है—'अपने मान को छोड़ो भी, प्रियतम से किए हुए झगड़े को खत्म करो, गया हुआ यौवन फिर वापस नहीं आता।' उसी कालिदास ने इक्ष्वाकुवंशियों की इस प्रवृत्ति की प्रशंसा की है कि वे यौवन ढ़लते ही राज्य का मोह छोड़कर वनवासी हो जाते थे। आप कालिदास को भौतिकवादी कहेंगे या अध्यात्मवादी?

उक्त कवि ने एक ओर जितेन्द्रिय तपस्वियों के सुन्दर चित्र दिये हैं तो दूसरी ओर स्वच्छन्द विहार करने वाले प्रणयी प्रेमियों के। दोनों में कौन-से चित्र कालिदास के 'जीवन-दर्शन' को व्यक्त करते हैं? और यह प्रश्न कालिदास के ही नहीं, संसार के किसी भी महान् साहित्यकार के सम्बन्ध में पूछा जा सकता है। कहा जाता है कि भारतवर्ष अध्यात्म-प्रधान देश है, लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि शृंगार के क्षेत्र में जितनी सरस और मांसल कविता हमारे देश में लिखी गई है, वैसी शायद किसी दूसरे देश में नहीं लिखी गई। कालिदास, भारवि, माघ, अमरूक आदि ही नहीं, सूरदास एवं विद्यापति जैसे भक्त-कवि भी इसका ज्वलन्त निदर्शन है। शिव, विष्णु आदि देवों के प्रति निवेदित हमारा समूचा स्तोत्र-साहित्य शृंगार के खुले संकेतों से ओत-प्रोत है। और यदि यह साहित्य अध्यात्मवादी है, तो फिर भौतिकवादी साहित्य किसे कहा जायगा?

हम अपनी बात दुहराते हैं—साहित्य और कला की उपयोगिता 'जीवन-दर्शन' तक सीमित नहीं है। अतीत साहित्य के बारे में यह और भी सत्य है, क्योंकि अतीत का 'जीवन-दर्शन' आज हमें और भी कम ग्राह्य होगा। फिर भी एक अर्थ है जिसमें साहित्यकार हमें उपयोगी 'जीवन-दृष्टि' दे सकता है। किन्तु यह दृष्टि साहित्य के सामान्य प्रयोजन से विच्छिन्न नहीं होती।

इस सम्बन्ध मे हम आगे चर्चा करेंगे।

तो, अतीत साहित्य को हम क्यो पढते हैं ? उत्तर है—बहुत-कुछ उसी कारण से जिस कारण से हम वर्तमान साहित्य को पढ़ते है। अतीत साहित्य को हम इसलिए पढते हैं कि वह आज भी हमारे जीवन स्पन्दन को वेगपूर्ण एव समृद्ध बनाने की क्षमता रखता है। आज भी वह यथार्थ की अर्थवती छवियो मे हमारी चेतना का प्रसार करता हुआ हमारे व्यक्तित्व को अधिक सचेत, रसमय और सृजनशील बनाता है। जिस साहित्य की यह क्षमता इतिहास के वर्तमान समय-बिन्दु तक निश्शेष नही हुई है, वह 'क्लासिकल' साहित्य है। इसी प्रकार अतीत के उन विचारकों की कृतियाँ, जो आज भी हमारी जिज्ञासा और कुतूहल की भावना को जाग्रत करती है, जो आज भी हमारे मस्तिष्क को झकझोरने की शक्ति रखती हैं, अपने-अपने विषयो की 'क्लासिक्स' कहलाती है। उपनिषद् और भगवद्गीता, बुद्ध, प्लेटो, अरस्तू, शकर आदि की कृतियाँ अथवा उक्तियाँ इसी अर्थ मे आज भी अर्थवती है। इस तथ्य को न समझकर उक्त कृतियो के 'ऐतिहासिक' महत्त्व की बात करना निरा बालकपन है।

सच यह है कि मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी है; वह अपने वर्तमान को ही नही, अतीत को लेकर भी जीवित रहता है। वस्तुतः हमारे जीवन मे अतीत की स्मृतियाँ ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, वर्तमान के इन्द्रिय-सवेदन उतने महत्त्वपूर्ण नही। हमारे जीवन की महत्ता मुख्यतः हमारी स्मृतियो मे है—हमारी राजनैतिक तथा आर्थिक क्रातियाँ, हमारी धार्मिक-नैतिक शिक्षाएँ तथा विश्वास, हमारी सैकडो विचार-पद्धतियाँ ये सब मानव-जाति की बहुमूल्य स्मृतियाँ ही हैं। आज रवीन्द्र और गाधी भी हमारे लिए स्मृति बनकर रह गए है, वे हमारे इतिहास की चीज है, हमारे वर्तमान की नहीं। इन स्मृतियो को ही हम परम्परा अथवा सास्कृतिक धरोहर कहते हैं।

इस धरोहर का वास्तविक अर्थ एवं मूल्य समझने के लिए हमे कुछ और गहराई मे घुसना पडेगा। डार्विन का विकासवाद बतलाता है कि विभिन्न जीव-योनियो का विकास और उन्नति उन अनुकूल परिवर्तनो के इकट्ठे होने से घटित होती है जो आने वाली पीढ़ियो की शरीर-रचना मे सक्रान्त हो जाते हैं। अनुकूल परिवर्तनो का संरक्षण और संक्रमण यही जीवयोनियो के विकास का रहस्य है।

लेकिन ऐसा जान पडता है कि जीवन के इतिहास मे उस प्रकार के विकास की संभावनाएँ अब खत्म हो चुकी हैं। मनुष्य को उत्पन्न करके मानो प्रकृति की विकास-क्रिया दूसरे साधनो को लेकर भिन्न ढंग से अग्रसर होने लगी है। मानव-व्यक्तित्व मे जो अनुकूल या प्रतिकूल परिवर्तन होते हैं, वे मुख्यतः शारीरिक अथवा बीजगत (Germ Plasm को प्रभावित करने वाले) नही होते। अब वे परिवर्तन आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक होते हैं। हमारे बदलते हुए विचार, मनोभाव, रागात्मक सवेदनाएँ, नैतिक आदर्श आदि ही वे परिवर्तन है जो मानवता के स्वरूप को निर्मित और प्रभावित करते है। अवश्य ही इनमे कुछ परिवर्तन कम महत्त्वपूर्ण होते हैं, कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण। दूसरे शब्दो मे कहे तो मानवता की निजी गहरी दृष्टि से कुछ विचारको के विचार तथा कुछ कलाकारो की सवेदनाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं, कुछ की कम। इस प्रकार के परिवर्तनो मे मानव जाति जिन्हे अधिक महत्त्वपूर्ण समझती है, उन्हे रक्षित कर लेती है; शेष को भुला देती है। ये रक्षित महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक परिवर्तन ही 'क्लासिक्स' है। आगे आने वाली पीढ़ियाँ इन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनो को वंशानुक्रम से नहीं पातीं। वे परिवर्तन मनुष्य के

शरीर अथवा मस्तिष्क की परिवर्तित रचना के रूप में चरितार्थ नहीं होते; वे भाषा आदि प्रतीकों में बँधकर पड़े रहते हैं। मानवता का साम्प्रतिक विकास आवश्यक रूप मे उसके द्वारा किये जाने वाले प्रतीकों के उपयोग पर निर्भर है। गणित-शास्त्र का शानदार इतिहास, जिस पर भौतिक-शास्त्र की सारी उन्नति आधारित है, ज्ञान की प्रतीकाधारित प्रगति का अद्भुत निदर्शन है। दूसरे क्षेत्रो मे भी हमारे विचारो और भावनाओ की प्रगति दूसरे प्रकार के (मुख्यतः शब्दमय) प्रतीकों पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से देखने पर अतीत साहित्यिक तथा विचारात्मक कृतियो का महत्त्व एक दूसरी ही रोशनी मे दिखाई देने लगता है।

गणित के नवीनतम अन्वेषण, उसकी प्राचीनतम तथा सरलतम स्थापनाओ पर निर्भर करते हैं। यह नही हो सकता कि कोई विद्यार्थी सिर्फ नये अन्वेषणों को सीखने की इच्छा रक्खे और पहले की स्थापनाओं की अवज्ञा करे। कुछ उसी प्रकार आज का दर्शन और साहित्य भी अतीत साहित्य और दर्शन पर निर्भर है। शायद आप कहें कि गणित की मिसाल ठीक नही, क्योंकि कालिदास और तुलसी अथवा शंकर और रसेल मे वैसा आवश्यक या अखण्ड तर्कात्मक सम्बन्ध नहीं है जैसा कि गणित की पुरानी और नई स्थापनाओं मे। उत्तर मे निवेदन है कि तर्कात्मक न होते हुए भी पूर्वकथित सम्बन्ध आकस्मिक या अनावश्यक नहीं हैं। इस समय का महान् दार्शनिक अथवा महाकवि वह नही बन सकता जो सिर्फ अपने युग को जानता है, बल्कि वह जिसका चिन्तन और सवेदना क्रमशः अतीत के तर्क-वितर्क और सौन्दर्य-बोध को आत्मसात् करके समृद्ध बन चुके हैं। बात यह है कि आज के युग की जहाँ अपनी दार्शनिक गुत्थियाँ और अपना जीवन-बोध है वहाँ प्राचीन समस्याएँ तथा जीवन-बोध भी उसका अनिवार्य अंग बन चुके हैं। प्राचीन प्रश्नो और समाधानो के आलोक मे ही आज की समस्याओ का निरूपण और उनके हल का प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार प्राचीन सौन्दर्य-बोध की पृष्ठभूमि मे ही आज की संवेदना का ताना-बाना बुना जाता है। यह नहीं कि आज का दार्शनिक या कवि प्राचीन की उपेक्षा नहीं कर सकता, किन्तु ऐसा करके वह जिस चिन्तन-पद्धति या कला की सृष्टि करेगा, वह अनुपात-शून्य एवं विकलांग होगी, वह युग की सम्पूर्ण अर्थात् पूर्ण रूप मे संस्कृत-चेतना को सन्तुष्ट नही कर सकेगी।

युग की सम्पूर्ण सास्कृतिक चेतना मे वे सारे तत्व मौजूद रहते है, जिनका आकलन या अनुचिन्तन अतीत की किसी भी कालावधि मे स्थायी महत्त्व की वस्तु समझा गया था। आज हम प्राचीन शिक्षको और कवियो की उक्तियो को समग्र जीवन-दर्शन अथवा समूचे सौन्दर्य-बोध के रूप मे भले ही स्वीकार न करे, किन्तु उन्हे हम एकान्त मिथ्या कहकर अस्वीकार नही कर सकते। मानव शरीर की जिन उपयोगी क्रियाओ अथवा अंगो का, विकास की लम्बी यात्रा मे समय-समय पर आविर्भाव हुआ है, वे सभी आज किसी-न-किसी रूप मे हमारे साथ है; उनके ऐतिहासिक विकास तथा स्वतन्त्र अस्तित्व को ठीक से समझे बिना हम अपनी वर्तमान भौतिक गठन को ठीक से नहीं समझ सकते। यही बात हमारी मानसिक और आध्यात्मिक गठन पर लागू है। ज्ञान के क्षेत्र मे विश्लेषण और समन्वय दोनो साथ-साथ चलते हैं। किसी तथ्य या समस्या का विश्लेषण जितना बारीक और बहुमुखी होगा, बाद में मिलने वाला समाधान या समन्वय उतना ही दृढ़ और समृद्ध होगा। मानव-चेतना का इतिहास मानो उन तत्त्वो को पृथक्कृत एवं सशक्त अवगति देता है, जो हमारे काल तक आते-आते अनिवार्य रूप में संकुल और सम्पृक्त हो चुके

हैं। इस प्रकार की अवगति हमे उन तत्वो का अधिक सचेत एवं अधिकारपूर्ण उपयोग करने की, नये सन्दर्भों में उनकी नियोजना करने की, क्षमता प्रदान करती है। इस प्रकार अतीत की विश्लिष्ट अवगति हमारी सृजन-शक्ति को दृढता और प्रसार देती है।

ऐतिहासिक विकास की इस प्रक्रिया को हम एक दूसरी दृष्टि से देखे। प्रत्येक युग मानव-चेतना या व्यक्तित्व को एक सीमा तक समृद्ध करके छोड देता है। जिन तत्वो द्वारा उस चेतना या व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है, उनके समस्त सम्भव संगठन या सव्यूहन उस युग के मनीषियो की रचनाओ मे उपलब्ध हो जाते है। विभिन्न कोटियो के नायक-नायिकाओ की परिकल्पना या निर्माण मे युग-विशेष के कलाकार अपने समय के सम्पूर्ण सौन्दर्य-बोध, अथवा सश्लिष्ट मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक-सामाजिक बोध को, चरितार्थ कर देते हैं। उदाहरण के लिए शकुन्तला-दुष्यन्त, इन्दुमती-अज, कादम्बरी-चन्द्रापीड तथा राम-सीता के व्यक्तित्वो एवं सम्बन्धो मे भारत के स्वर्ण-युग का अशेष सौन्दर्य-बोध पूंजीभूत रूप में अभिव्यक्त है। यही बात होमर, शेक्सपीयर, टॉलस्टॉय आदि के पात्र-पात्रियों के बारे मे सत्य है। यहाँ पाठक सौन्दर्य-बोध शब्द की संकीर्ण आदर्शवादी व्याख्या न लें; उसके अन्तर्गत युग-विशेष का असौन्दर्य एवं अनीति का बोध भी आ जाता है। रावण का व्यक्तित्व युग के सौन्दर्य-बोध की उसी हद तक अभिव्यक्ति है जिस हद तक राम का चरित्र। इस दृष्टि से डास्ता ईव्स्की के असामान्य या विच्छिन्न व्यक्तित्व वाले पात्र भी अपने युग के सौन्दर्य-बोध के प्रतीक हैं।

हम कहना यह चाहते हैं कि मानव व्यक्तित्व या चेतना का निर्माण करने वाले ये तत्व प्रायः एक युग से दूसरे युग मे सक्रान्त होते जाते हैं; और प्रत्येक आने वाला युग उनकी जटिलता मे वृद्धि कर देता है। बाद के युग में पूर्व युग के तत्व रहते है, पर उतने स्पष्ट रूप में नहीं जैसे कि वे विगत युग मे थे। विगत युग-जीवन के ये तत्व अब भी व्यक्तित्वो का निर्माण करते है, पर कुछ भिन्न रूप में। जिस प्रकार आज के भौतिक, सामाजिक परिवेश मे कालिदास का परिवेश समावेशित है, भले ही वह उस रूप मे दिखाई न देता हो, उसी प्रकार आज की मानव-चेतना मे कालिदास के युग की मानव-चेतना समाई हुई है। यही कारण है कि हम आज भी 'शाकुन्तल' और 'मेघदूत' का रस ले सकते हैं। किन्तु आज यदि कालिदास स्वर्ग से उतर आए, तो वह दास्ता ईव्स्की के 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' का रस ले सकेगा, इसमे सन्देह है। कारण यह है कि उक्त उपन्यास के नायक के व्यक्तित्व को निर्मित करने वाले सभी तत्वों से कालिदास का परिचय नहीं होगा; उसे उक्त नायक एक पहेली जान पड़ेगा। इसके विपरीत 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' का रस ठीक से वही पाठक ले सकता है जिसने अतीत का काफी साहित्य पढा है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने यूरोपीय दर्शन का इतिहास नहीं पढा है वह न रसेल को समझ सकता है, न विटगैन्स्टाइन या हैडेगर को, वह व्यक्ति, बडी-से-बडी प्रतिभा रखते हुए भी, ऐसे किसी दर्शन का निर्माण भी नहीं कर सकता जो विश्व-दर्शन अथवा यूरोपीय दर्शन के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण कड़ी बन सके। इसी प्रकार वह लेखक जो अतीत साहित्य मे प्रतिष्ठित मानव-चेतना से सुपरिचित नहीं है, महत्त्वपूर्ण पात्रों अथवा साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता। महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पुरुषो की भाँति साहित्य के महत्त्वपूर्ण पात्र भी वही होते हैं जो, सचेत या अचेत भाव से, मानव-चेतना के विधायक असंख्य परम्परा-प्राप्त तत्त्वों को समेटते या ढोते चलते हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द का होरी एक साधारण नहीं; असाधारण पात्र है। वह

और उसके साथी भारतीय सौन्दर्य-बोध की अनगिनत परम्पराओं के वाहक हैं। इसी से यह सच्चाई अनुगत होती है कि श्रेष्टतम साहित्य के पात्र निजी व्यक्तित्व से सम्पन्न होते हुए भी 'टाइप' होते हैं; वे सौन्दर्य-बोध अथवा रागात्मक-बोध की लम्बी, परिचित परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करते है।

हमने अतीत साहित्य की व्यापक उपयोगिता पर अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया। संक्षेप मे, तथाकथित 'क्लासिकल' साहित्य जीवन के उन तत्त्वों की चेतना का वहन करता है जिनकी उपयोगिता या सार्थकता आज भी अक्षुण्ण है। 'क्लासिकल साहित्य' के संरक्षण एवं अध्ययन का अर्थ रागात्मक-सवेदना के उन रूपों का आकलन या उज्जीवन है, जो मानवता के चेतना-मूलक विकास के अंग एवं प्रतीक हैं। मानव-समाज का कोई सदस्य सिर्फ बीसवीं सदी में पैदा हो जाने से ही बुद्ध एवं कालिदास से श्लाघ्यतर व्यक्तित्व वाला मनुष्य नहीं बन जाता; उनकी तथा बाद के एवं समकालीन अनेक महापुरुषो की सास्कृतिक-लब्धियो को आत्मसात् करके ही वह अपने व्यक्तित्व को अधिक सचेत एवं समृद्ध बना सकता है। इस दृष्टि से बीसवीं सदी के एक साधारण बुद्धि-जीवी का व्यक्तित्व अतीत के बड़े लेखक-विचारकों की तुलना मे अधिक जटिल तथा चेतनावान् हो सकता है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है—क्या कोई ऐसा अर्थ है जिसमे अतीत का साहित्यकार आज भी हमारा नियामक एवं पथ-प्रदर्शक बन सकता है? उत्तर मे निवेदन है कि प्रत्येक लेखक और विचारक नई चेतना का विधायक होने के नाते हमारा शिक्षक होता है। मतलब यह कि शिक्षा केवल नैतिक ही नहीं होती। यदि शिक्षा का अर्थ नैतिक-राजनैतिक आदर्शों का प्रचार मात्र हो तो कहना होगा कि न्यूटन तथा आइन्स्टाइन मानव-जाति के शिक्षक नही हैं। इसके विपरीत मनोवैज्ञानिक यथार्थ अर्थात् मानव-स्वभाव की रागात्मक सम्भावनाओं के उद्घाटक होने के नाते बिहारी एवं विद्यापति हमारे वैसे ही महत्त्वपूर्ण शिक्षक हैं जैसे कि वाल्मीकि और तुलसी। यही नही, इस दृष्टि से हम टॉल्स्टाय और शेक्सपीयर को तुलसी से बडा शिक्षक भी कह सकते है।

किन्तु प्रश्न का एक दूसरा पक्ष भी है। समृद्ध, रसपूर्ण जीवन के लिए जहाँ कला और चिन्तन अपेक्षित हैं, वहाँ अच्छी समाज-व्यवस्था भी कम अपेक्षित नही। और अच्छी व्यवस्था का अर्थ है—नर-नारियों के सन्तुलित सम्बन्ध एवं व्यक्तियो का सन्तुलित, स्वस्थ जीवन। कलाकार इस प्रकार के जीवन एवं व्यवस्था की रूप-रेखा खड़ी करके जन-कल्याण का पथ प्रशस्त कर सकता है। और चूँकि मानव-जीवन के लिए उपयोगी नैतिक नियन्त्रण तथा नैतिक-रागात्मक सवेदनाएँ युग-युग मे करीब-करीब वही रही हैं—उदाहरण के लिए संयम, निर्लोभता तथा त्याग की भावनाओं का प्रायः सार्वकालिक महत्त्व है—इसलिए अतीत के कलाकार आज भी श्रेष्ठ-व्यवस्था एवं चरित्र की कल्पना मे हमारी मदद कर सकते हैं। प्राचीन साहित्यकारों के जीवन-दर्शन एव सिद्धान्त—जैसे पुनर्जन्म, ईश्वरवाद आदि से सम्बद्ध मन्तव्य जहाँ पुराने पडकर अग्राह्य हो जाते है, वहाँ उनकी कृतियो से मिलने वाली रसात्मक एवं नैतिक प्रेरणाएँ चिरकाल तक प्रभावपूर्ण बनी रहती है। यही नही, हमारी आस्था है कि इस प्रकार की प्रेरणाएँ लम्बे-चौड़े जीवन-दर्शन से जितनी कम सम्पृक्त रहती हैं, उतनी ही अधिक नैसर्गिक एव स्थायी महत्त्व वाली जान पडती हैं, विशेषतः आगे आने वाली पीढ़ियो को। इस दृष्टि से भी हम शेक्सपीयर तथा कालिदास को तुलसी से कम महत्त्व का शिक्षक नही कह सकेंगे।

राजकमल प्रकाशन

के

श्रेष्ठ, निजी प्रकाशन

सांस्कृतिक

पञ्चतन्त्र—अनु० डा० मोतीचन्द्र ४॥)
दशकुमार चरित—अनु० पं० निरंजनदेव शर्मा ५॥)
मेघदूत—अनु० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ३॥)
भारतीय संस्कृति—शिवदत्त ज्ञानी ५)
काश्मीर : देश व संस्कृति—शिवदानसिंह चौहान ५)
अन्तरात्मा से—रंगनाथ दिवाकर २।)
अन्तर-निरीक्षण—महाराजा पोरबन्दर २॥)

कहानियां व लोक-साहित्य

पाषाण नगरी—शिवसहाय चतुर्वेदी ३॥)
धरती गाती है—देवेन्द्र सत्यार्थी १०)
बाजत आवे ढोल— „ ७)
धीरे बहो गंगा— „ ६)
जीवन के अंचल से—लीलावती मुन्शी ४॥)
फूल और पत्थर—कृष्णचन्द्र २॥।)
कहानी : नई पुरानी—डा० रघुबीरसिंह २)

उपन्यास

जय सोमनाथ—क० मा० मुन्शी ५)
भगवान् परशुराम— „ ६॥)
लोमहर्षिणी— „ ४॥)
राजाधिराज—(प्रेस में) „ ६)
लोपामुद्रा—(प्रेस में) „ ५)
स्वप्नद्रष्टा „ ४)
एक था राजा—मुल्कराज आनन्द ७॥)
कजली—भवानी भट्टाचार्य ४॥)
हड़ताल—क्षेमचन्द्र सुमन ४॥)
वेदवृक्षों की छाया मे—शिह येन १)
टूटे हुए पर—खलील जिब्रान १॥)
प्रगति की राह—गोविन्दवल्लभ पन्त ४॥)
नये मोड़—उदयशंकर भट्ट ३॥)
ग़दर—ऋषभचरण जैन २॥)
रथ के पहिये—देवेन्द्र सत्यार्थी ५॥)
कायर—राजेन्द्र शर्मा १॥।=)
जीवन-दान—श्रीराम शर्मा 'राम' १॥।=)
आदमी और सिक्के—महेन्द्रनाथ १॥।=)
बहती गंगा—शिवप्रसाद मिश्र रुद्र १॥।=)
गंगा मैया—भैरवप्रसाद गुप्त १॥।=)

निबन्ध व साहित्य

आलोचना: इतिहास तथा सिद्धान्त—डा० एस० पी० खत्री ११)
हिन्दी भाषा तथा साहित्य—डा० उदयनारायण तिवारी २॥)
हिन्दी गद्य-साहित्य—शिवदानसिह चौहान, विजय चौहान २)
सिद्धान्त और समीक्षा—संकलन २॥)
शेष स्मृतियाँ—डा० रघुबीरसिंह ४)
निबन्धिनी—गंगाप्रसाद पाण्डेय ३॥)
गद्य-गौरव—संकलन २॥)
पद्य-प्रवाह—संकलन २॥)
प्रेमचन्द : एक विवेचना—डा० इन्द्रनाथ मदान ३।)
राष्ट्रभाषा हिन्दी—संकलन ३)
विचार-वल्लरी—स० जैनेन्द्र कुमार २॥)
मानसरोवर—संकलन १)
साहित्य-संचय—संकलन २॥)
जीवन-कण—डा० रघुबीरसिंह ३)
जीवन-धूलि— „ १॥)
मुन्शीजी और उनकी प्रतिभा—पं० सीताराम चतुर्वेदी ३)
घुमक्कड़-शास्त्र—राहुल सांकृत्यायन ३।)
सुबह होती है—कृष्णचन्द्र ३)

मुन्शी अभिनन्दन-ग्रन्थ—संकलन १५)

कविता

अपलक—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ३॥)

क्वासि—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ३॥)

चेतना—बाबूलाल पालीवाल १॥)

सुवेला—शम्भूनाथ 'शेष' २)

नाटक

शम्बर-कन्या—क० मा० मुन्शी २)

ध्रुव-तारिका—डा० रामकुमार वर्मा १)

समस्या का अन्त—उदयशंकर भट्ट ३)

कालिदास—उदयशंकर भट्ट २)

एकला चलो रे—उदयशंकर भट्ट १)

विद्रोहिणी अम्बा—उदयशंकर भट्ट १॥)

सगर-विजय—उदयशंकर भट्ट २)

बरगद—कृष्णलाल श्रीधराणी १॥)

छलना—भगवतीप्रसाद वाजपेयी २॥)

युगछाया—स० शिवदानसिंह चौहान २॥)

राजनीतिक

गांधी और स्टालिन—लुई फ़िशर २॥।)

नेताजी और आज़ादहिन्द फौज—
शाहनवाज़ खां ५)

आधुनिक योरप का राजनीतिक दर्शन—
श्यामसुन्दर गुप्त २)

आज का मानव-जीवन और उसकी समस्याएँ—
रामेश्वर गुप्त २)

मनोविज्ञान व शिक्षा

सरल मनोविज्ञान—हंसराज भाटिया ३॥)

बच्चा : मेरा शिक्षक—कैरालीन प्रैट १।)

हमारे बच्चे : ६ से १२ वर्ष तक— ४॥)

शिक्षण-प्रविधि—
बी० एस० माथुर, शची माथुर १॥)

राजकमल मनोविज्ञानमाला—१६ भाग
प्रत्येक का १)

बाल साहित्य (सचित्र)

पंचतन्त्र की कहानियाँ—२ भाग प्रत्येक का १)

हमारे बापू—डा० इन्द्रनाथ मदान ॥।=)

हमारे नेहरू— ,, ॥।=)

हमारे गुरुदेव— ,, ॥।=)

मुन्शी प्रेमचन्द— ,, ॥।=)

बचपन की कहानियाँ—
शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय १॥।)

चम-चम चमके चन्दा मामा—
बाबूराम पालीवाल १)

धुएँ की फाँसी—एस० ए० ताहिर १॥।)

नन्हे लंगूर की कहानी—(६ रंगों में) १॥।)

प्रौढ़ साहित्य

देश-परिचय माला—१० भाग—प्रत्येक का ॥)

ग्राम-पंचायत—राजेन्द्र शर्मा १॥)

हमारा समाज—२ भाग—प्रत्येक का १)

इतिहास

रतलाम का प्रथम राज्य—डा० रघुबीरसिंह १०)

सेक्स

दाम्पत्य प्रेम—डा० मेरी स्टोप्स २॥)

सन्तति नियमन— ,, १॥)

स्थायी प्रेम—(प्रेस में) ,, २॥)

धार्मिक

धर्म-वर्णन—आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव १॥)

अर्थ-शास्त्र

हमारी खुराक व आबादी की समस्या—
ओम्प्रकाश २)

निर्देशक

राजकमल वर्षबोध—१९४९ ५)

राजकमल वर्षबोध—१९५०-५१ ५)

राजकमल वर्षबोध—१९५२ (प्रेस में) ४)

राजकमल प्रकाशन

१, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली

'आलोचना विशेषांक' की सूचना—

तीसरे वर्ष मे पदार्पण करने के उपलक्ष मे 'आलोचना' का आगामी अक्तूबर अंक आलोचना विशेषांक होगा।

★ इसमे आदिकाल से लेकर आज तक विश्व के अन्यान्य देशो मे विभिन्न दार्शनिक विचारो, मनुष्य के ऐतिहासिक ज्ञान और साहित्य-कला की परम्परा के गम्भीर अध्ययन-अनुशीलन के आधार पर सौन्दर्य-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र की रचना और व्याख्या करने वाले मनीषी आचार्यों के सिद्धान्तो का वैज्ञानिक विवेचन और प्रामाणिक परिचय रहेगा।

★ इसमे प्राचीन तथा अर्वाचीन भारतीय आचार्य भरतमुनि, भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, राजानक कुन्तक, महिम भट्ट, मम्मट, क्षेमेन्द्र, विश्वनाथ, राजशेखर, पंडितराज जगन्नाथ, रामचन्द्र शुक्ल तथा इतर भारतीय विचारक अफलातूं, अरस्तू, लॉन्जाइनस, फिलिप सिडनी, ड्राइडन, पोप, वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, शेली, ऐडगर ऐलन पो, चार्ल्स ऑगस्टिन, सान्ते ब्वो, मैथ्यू आर्नल्ड, संत टामस एक्वीना, लोप दी विगा, जोसफ एडिसन, हेनरी फील्डिंग, शिलर, गेटे, विलियम हेजलिट, टामस लव पीकॉक, विक्टर ह्यूगो, एमर्सन, जेम्स रसेल लावेल, जॉन रस्किन, गुस्ताव फ्लावेयर, काण्ट, हीगल, विलियम मोरिस, मार्क्स, बेलिन्सकी, चर्नि-शेव्स्की, तॉलस्तॉय, प्लेखानोफ, गोर्की, कॉडवेल आदि की उन महान् कृतियो का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत किया जायगा जिन्होने मनुष्य के सांस्कृतिक विकास मे योग दिया है, और जो आज भी विचारो को स्फूर्ति और समृद्धि प्रदान करने मे समर्थ है।

★ इसमे साहित्य-कला-सम्बन्धी मनुष्य की विभिन्न युग-सापेक्ष धारणाओ, रुचियो, विचार-धाराओ, वादो, आन्दोलनो और उनके प्रतिपादको की कृतियो का विवेचन और परिचय रहेगा।

★ इसमे भारतीय और इतर भारतीय साहित्य सिद्धान्तो और सौन्दर्य-दृष्टियो के राष्ट्रीय तथा विश्वजनीन, युग-सापेक्ष तथा चिरन्तन तत्त्वो का विवेचन करके एक वैज्ञानिक समीक्षा-सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न होगा।

★ इसमे कितने ही हिन्दी तथा हिन्दीतर भारतीय एवं पाश्चात्य भाषाओ के गम्भीर आलोचको के निबन्ध रहेगे, जो ऊपर दी गई योजना मे सहयोग देकर हिन्दी पाठको के सम्मुख प्रथम बार और एक साथ ही साहित्य-कला और सौन्दर्य-सम्बन्धी विश्व के समस्त युगान्तरकारी विचारको की चिन्ता को प्रामाणिक रूप मे प्रस्तुत करेगे।

विस्तृत योजना के लिए अगले अंक मे सम्पादकीय विज्ञप्ति की प्रतीक्षा कीजिए।

राजकमल प्रकाशन
१ फ़ैज बाज़ार, दिल्ली

—देवराज
प्रकाशक 'आलोचना'

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, १ फैज बाज़ार दिल्ली, के लिए श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली मे मुद्रित।